कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

वसुधा

Year 6, Issue 22
April-June 2009

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर

वर्ष ६ - अंक २२, अप्रैल-जून २००९

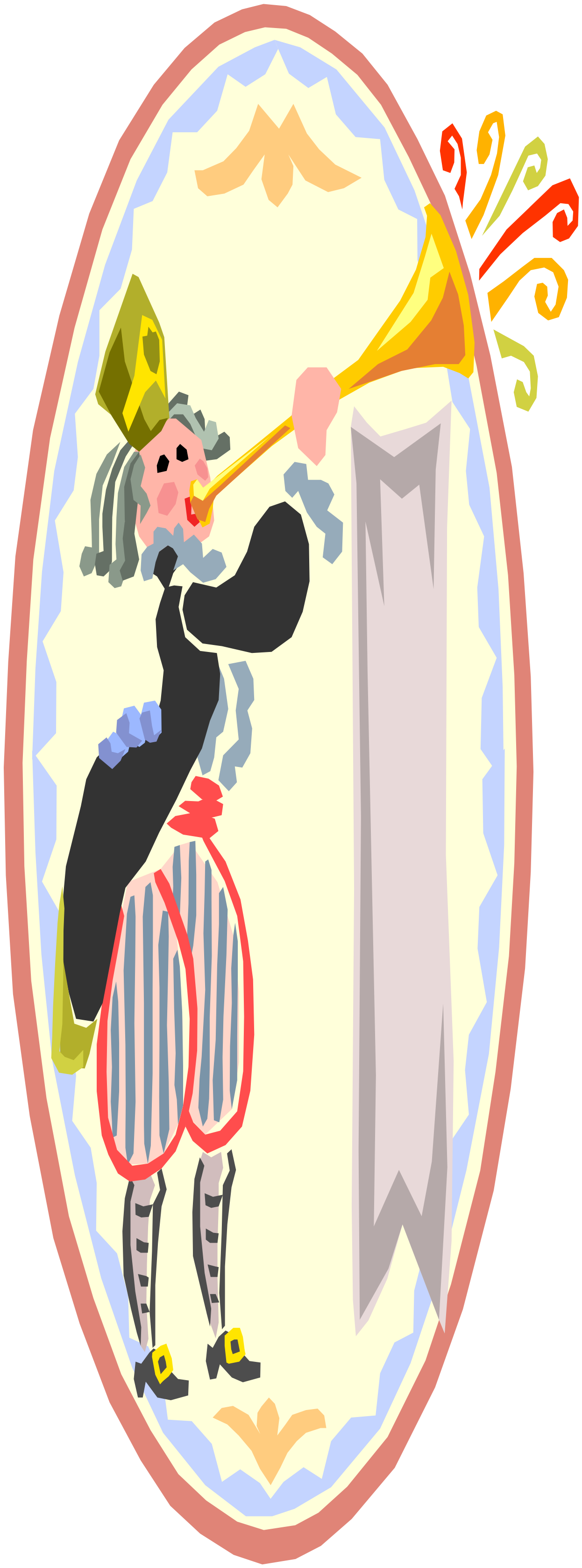

होली खेलें बाल गोविन्दा

राजीव रंजन

होली खेलें बाल गोविन्दा
माई तेरो रंग दियो बाल गोविन्दा।

मैया बाबा सब को रंग दियो
काहू न छो` कन्हैया
ऐसी छटा कहुँ नहिं देखी
पुलकित लोग लुगइया
रंग में रंग दियो राधे संवरिया
होली खेलें बाल गोविन्दा।

हर कोई खेलन चाहत होली
नंद बबा के अंगना
ऐसो रंग जमेगो हुआँ पर
सच हुइए हमरो सपना
नाचें दाऊ कन्हैया
होली खेलें बाल गोविन्दा।

ग्वाल बाल मारें भर पिचकारी
ग्वालिन देवें गारी
प्रेम के रस में भीगे ब्रज जन
गावें होरी - रसिया
मन हरषें जसुदा मइया
होली खेलें बाल गोविन्दा।

जमुना रुक गई पंछी रुक गए
जुगाली भूली गइयाँ
'रंजन' कहें हम भी वहाँ जायें
जहाँ शंकर लेवें बलइयाँ
मुस्कायें राधे रनियाँ
होली खेलें बाल गोविन्दा।

वसुधा

संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर

शीर्षक	रचयिता	पृष्ठ
संपादकीय		२
प्रच्छन्न	डॉ. नरेन्द्र कोहली	३
मैं बंजारन	बनवारी शर्मा	१०
काला लिबास	डॉ. सुषम बेदी	११
आर्ये ! कुल में दाग न लगा	डॉ. राम देव प्रसाद सिंह	१९
जो रामजी को मंज़ूर	कमल कपूर	२०
माँ	मीनाक्षी जिजीविषा	२३
शरणागत दीनार्त....	चंद्रकांता	२४
मंदिर बनाने से भला क्या !	सुभाष ऋतुज	३१
अवांछिता	आशा रानी	३२
प्रश्नचिह्न	ज्योति कालरा 'उम्मीद'	३७
बंधन मुक्त	सुदर्शन रत्नाकर	३८
मंथन	अक्षय गोजा	४०
'निरन्तर लेखन ही मेरा जीवन है' विष्णु प्रभाकर जी से सुनीति रावत की बातचीत	सुनीति रावत	४१
होली खेलें बाल गोविन्दा	राजीव रंजन	१३अ
कहा फूलों ने हँस कर....	जवाहर इन्दु	४४अ

रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :

16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534

वार्षिक शुल्क Annual subscription..........$25.00

डाक द्वारा By Mail................................$35.00

Website: http://ca.geocities.com/sneh.thakore/Home.html

e-mail: sneh.thakore@yahoo.ca

संपादकीय (अंक २२, अप्रैल-जून २००९)

गत वर्ष भारत सरकार द्वारा एक ऐसी महान् विभूति के नाम का डाक टिकट निकाला गया व दिसम्बर ८, २००८ को उसका अनावरण किया गया, जो धरती पर अपने आवास-काल में हिन्दी के प्रबल पक्षधर थे और इस नश्वर शरीर को त्यागने के बाद भी आकाश में चन्द्रमा की तरह चमकते हुए हमारा दिग्दर्शन कर रहे हैं। ये महान् विभूति हैं, बहुआयामी प्रतिभा व प्रज्ञा के धनी, विश्व-मनीषी डा. लक्ष्मी मल्ल सिंघवी। गत वर्ष ही आदरणीय एवं प्रिय डा. लक्ष्मी मल्ल सिंघवी जी के सम्मान में, शीघ्र प्रकाश्य संदर्भित ग्रंथ - दृष्टि में सृष्टि डा. लक्ष्मी मल्ल सिंघवी दिग्दर्शन ग्रंथ हेतु गठित समिति में मेरा, सदस्य सम्पादन मण्डल के रूप में मनोनयन किया गया जिसके लिए मैं माननीया श्रीमती कमला सिंघवी जी एवं ग्रंथ समिति की आभारी हूँ। जहाँ साहित्यिक रूप से डा. सिंघवी जी के विचारों ने, उद्गारों ने, रचनाओं ने 'वसुधा' को समृद्ध किया, वहीं व्यक्तिगत रूप से हमारे आदरणीय एवं प्रिय सिंघवी जी ने ठाकुर साहब व मुझे हर क्षण अपने हृदय की विशालता, सरलता, सहजता, स्नेहानुभूति से अभिभूत किया, अभिसिंचित किया। गु खाने वाला ही गु की मिठास का वर्णन कर सकता है। सिंघवी जी व कमला जी की आत्मीयता का अंदाजा वही लगा सकता है जिसे ईश्वर ने यह सौभाग्य प्रदान किया हो। हम ईश्वर के अनुग्रही हैं कि उसने हम पर यह अनुग्रह किया।

गणतंत्र दिवस २६ जनवरी की सुबह ध्वजारोहण के सुनहरे अवसर पर भारत की प्रथम महिला राष्ट्रपति माननीया प्रतिभा पाटिल जी के वक्तव्य को टोराण्टो कोंसुलावास की प्रथम महिला कोंसुलाध्यक्ष माननीया श्रीमती प्रीति सरन जी ने जिस भाव-प्रवणता से पढ़ा, राष्ट्रपति के मनोद्गारों की अभिव्यक्ति को जिस संवेदनशीलता से अभिव्यक्त किया, वह टोराण्टोवासियों के मानस-पटल पर सदैव अंकित रहेगी। इस सुअवसर पर उपस्थित कोंसुलावास के समस्त पदाधिकारी तथा उनके परिवारों की सदाशयता प्रशंसा योग्य है। इस पावन पुनीत अवसर पर राष्ट्र-प्रेम संबंधित अपनी कविता 'हम भारतवासी, हम भारतवंशी' की पंक्तियों द्वारा भारत माँ को नमन करने का जो सौभाग्य कोंसुलाध्यक्ष माननीया श्रीमती प्रीति सरन जी ने मुझे प्रदान किया उसके लिये हृदय से उनकी आभारी हूँ।

विश्व हिन्दी सचिवालय, मारीशस से प्रकाशित त्रैमासिक प्रकाशन 'विश्व हिन्दी समाचार' में 'वसुधा' के प्रति लिखे गये उद्गार हेतु प्रधान संपादक विश्व हिंदी सचिवालय की महासचिव डा. विनोदबाला अरुण एवं संपादक डा. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र की आभारी हूँ। मेरा भरसक प्रयास रहेगा कि 'वसुधा' उनके अमूल्य वचनों को सार्थक करते हुए भविष्य की कसौटी पर सदा खरी उतरे।

भारत से प्रकाशित आईसीसीआर की सुप्रसिद्ध पत्रिका गगनांचल के सम्पादक, अनेक सम्मान विभूषित श्री अजय कुमार गुप्ता जी की आभारी हूँ जिन्होनें मेरे काव्य-संग्रह 'अनुभूतियाँ' की ब ी ही हृदय-स्पर्शी समीक्षा कर उसे गगनांचल में स्थान दिया। यह सुखद आश्चर्यानुभूति थी क्योंकि मुझे इस समीक्षा का जरा-सा भी आभास तक नहीं था। उनकी विशाल-हृदयता चिरस्मरणीय रहेगी।

डा. हरजेन्द्र चौधरी जी के प्रति भी अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने स्वयं ही मेरी पुस्तक 'पूरब-पश्चिम' की समीक्षा करने का निर्णय लेकर मुझे अनुग्रहीत किया। 'बिन माँगे मोती मिले' जैसी यह समीक्षा मेरी झोली में अनायास आ गिरी। डा. चौधरी पोलैंड, जापान आदि विश्वविद्यालयों में भी अध्यापन-रत रहे हैं और अभी भी भारत से विदेशों में शैक्षणिक विषयों हेतु उनका आवागमन होता रहता है, अतः उनके ज्ञान और अनुभवी दृष्टिकोण से की गई 'पूरब-पश्चिम' की समीक्षा स्वयं में एक विशेष महत्व रखती है।

हिन्दी की सर्वप्रिय इंटरनेट पत्रिका 'अभिव्यक्ति-अनुभूति' की संपादक सुमधुर स्वभावी प्रिय पूर्णिमा वर्मन जी ने सद्भावना हिन्दी साहित्यिक संस्था की दूसरी पुस्तक 'बौछार' के विमोचन का समाचार जन-जन तक पहुँचा कर उसके कवियों को आनन्दित किया। संस्था के अध्यक्ष के नाते पूर्णिमा जी को अनेकानेक धन्यवाद।

'वसुधा' की परम हितैषी, बल्गेरिया में हिन्दी का परचम फहराने वाली प्रोफेसर व देवम् की अध्यक्ष डा. मौना कौशिक को जनवरी में भारत में सम्मानित किया गया। सभी आप्रवासी हिन्दी प्रेमियों के लिए यह गर्व का विषय है। उनका हिन्दी प्रचार-प्रसार प्रयास उन्हें सफलता के आयाम तय कराता रहे इसी शुभेच्छा सहित उन्हें हार्दिक बधाई।

शुभाकांक्षी, पुरवई की सह-संपादक प्रिय उषाराजे सक्सेना की सुपुत्री वंदना सक्सेना पोरिया ने लंदन, इंग्लैंड में क्वीन द्वारा 'ओबीई' पुरस्कार प्राप्त कर भारतीयों एवं भारतवंशियों का मान बढ़ाया।

'वसुधा' के शुभेच्छु जर्मनी निवासी डा. इन्दु प्रकाश पाण्डे की पुस्तक 'हिन्दी के प्रयोगधर्मी उपन्यास' के प्रकाशन हेतु बधाई। ईश्वर करे वो ऐसे ही हिन्दी की सेवा में संलग्न रहें।

नव वसंत का आगमन अपनी ऊर्जा, अपनी प्रेरणा से हमें भी जन-कल्याण हेतु प्रेरित करे। आतंक मुक्त जीवन, समाज और विश्व की कामना और तदनुसार आचरण के प्रति जन-जन संकल्पित हो, इसी आशा को मन-प्राण में सँजोये,

सस्नेह,

स्नेह ठाकुर

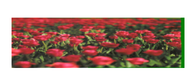

प्रच्छन्न

डा. नरेन्द्र कोहली

रानी सुदेष्णा ने ध्यान से अपने सामने ख ी उस स्त्री को देखा, जिसे अभी-अभी राजप्रासाद की रक्षिकाएँ पक कर लाई थीं। उन्हें यह स्त्री प्रासाद की रक्षा करने वाले सैनिकों ने सौंपी थी। उसे प्रासाद के सम्मुख निष्प्रयोजन डोलते फिरने तथा भी इकट्ठी कर यातायात के आवागमन में विघ्न उपस्थित करने के अपराध में पक ा गया था। प्रहरी समझ नहीं पाये थे कि वह स्त्री लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती थी, अथवा सैनिकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर, उनको किसी अन्य दिशा से असावधान कर देना चाहती थी। आजकल सेनापति कीचक नगर में नहीं थे, सेना का एक ब ा भाग भी सेनापति के साथ ही बाहर गया हुआ था। ऐसे में अनेक शत्रुओं द्वारा नगर में उत्पात रचे जाने की संभावना हो सकती थी। और फिर एक इतनी असाधारण रूपवती स्त्री, स्वयं को जनसाधारण की दृष्टि से छिपाने के स्थान पर बीच राजमार्ग में ख ी होकर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करे, तो सैनिकों को किसी षड्यंत्र की आशंका का होना स्वाभाविक ही था।

रानी की दृष्टि कह रही थी कि यह कोई साधारण स्त्री नहीं थी। उसका रूप असाधारण था। ऐसी स्त्रियाँ मार्गों में व्यर्थ ही मँडराती नहीं फिरतीं। उसके वस्त्र इस समय अवश्य मलिन थे। केश भी वेणीबद्ध नहीं थे। . . . किन्तु कैसे केश थे वे। किसी भी स्त्री को सहज ही ईर्ष्या होगी उसके इन केशों से। घुटनों तक लम्बे और लहराते हुए ऐसे सुन्दर केश, कि कोई भी स्त्री उन्हें देखती ही रह जाये, और पुरुष का मन उसमें बँध-बँध जाए। कौन उनका स्पर्श नहीं चाहेगा। अमावस्या-से घने काले केश। रानी का अपना मन ही मुग्ध होता जा रहा था। . . . अभी तो इस स्त्री ने अपना सारा वेश मलिन बना रखा था। . . . किंतु कौन नहीं देख सकता था कि नील कमल-सा उसका वर्ण था। लगता था कि यात्रा या किसी अन्य कारण से, वह इस समय मलिन तथा रेणु आच्छादित-सी दिख रही है। लगता नहीं था कि कई दिनों से मुख भी धोया हो. . . .

'कौन हो तुम?' रानी ने पूछा।

'कोई भी होऊँ, पहले तो मुझे तुमसे यह पूछना है कि मुझे इस प्रकार पक कर क्यों लाया गया है, जैसे मैं कोई अपराधिनी हूँ?' उस स्त्री ने सतेज स्वर में पूछा।

'ऐ।' एक रक्षिका ने आगे बढ़कर उसे एक झटका दिया, 'महारानी को तुम कह कर सम्बोधित कर रही हो ! सामान्य शिष्टाचार भी नहीं जानती !'

सुदेष्णा ने अपने हाथ के संकेत से रक्षिका को रोक दिया, 'क्या आरोप है इस पर?'

'महारानी यह स्त्री मुख्य मार्ग पर डोलती फिर रही थी। इसने अपने आस-पास भी एकत्रित कर रखी थी, और सैनिकों के अनेक बार कहने पर भी न यह मार्ग से हट रही थी और न ही मार्ग पर इस प्रकार डोलने और भी एकत्रित करने का कोई कारण बता रही थी। सैनिकों की पूछताछ के उत्तर में इसने न केवल उन्हें कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया, उल्टे उनसे झग ा किया। एक-आध का तो मुँह ही नोंच लिया।'

'मैंने तो मुँह ही नोंचा है, यदि मेरे पति आस-पास होते तो उन सैनिकों में से अनेक की हत्या अवश्यंभावी थी।' वह स्त्री बोली, 'क्या मत्स्यराज इसी प्रकार का शासन करते हैं, जिसमें संकट में प ी किसी अकेली स्त्री को देख कर राज्य के सैनिक उसे गणिका मान कर उसका अपमान करने लगते हैं, और यदि वह स्त्री आत्मरक्षा में उनका प्रतिरोध करे तो वह बन्दी कर ली जाती है? संसार के किसी सभ्य समाज में ऐसा नहीं होता। यहाँ धर्मात्मा राजा मत्स्यराज का शासन है अथवा किसी राक्षस का?'

'शांत हो जाओ।' सुदेष्णा ने कहा, 'यहाँ कोई तुम्हारे साथ अन्याय नहीं करेगा।'

'अन्याय नहीं करेगा, किंतु दुर्व्यवहार तो करेगा ही।' वह स्त्री बोली, 'जब से आपके राज्य में आई हूँ, मेरे साथ यही हो रहा है।'

'नहीं ! अब तुम्हारे साथ कोई दुर्व्यवहार भी नहीं करेगा।' रानी ने कहा, 'तुम बताओ कि तुम कौन हो?'

'कौन हूँ? सैरंध्री हूँ। महारानी द्रौपदी मुझे मालिनी कह कर पुकारा करती थीं।' स्त्री ने कहा।

'महारानी द्रौपदी !' रानी सुदेष्णा ने कुछ आश्चर्य से पूछा, 'उनसे तुम्हारा क्या संबंध है?'

'संबंध क्या होना है। मैं उनकी सेवा में थी।' स्त्री ने कुछ उद्दंडता से कहा, और फिर धीरे से जो दिया, 'मैं कुछ समय तक श्रीकृष्णप्रिया सत्यभामा की सेवा में भी रही हूँ।'

'तो फिर अब यहाँ क्या करती डोल रही हो?' रानी ने कुछ ऊँचे स्वर में कहा, 'नाम तो इतने ब े-ब े ले रही हो, और यहाँ राजमार्ग पर तमाशा कर रही हो !'

'महाभाग पाण्डवों का राज्य छिन गया। वे लोग अज्ञातवास के लिए चले गये। महारानी द्रौपदी उनके साथ अज्ञात स्थान को चली गईं, तो मैं अब क्या करूँ? आप ही बता दें कि वे लोग कहाँ हैं तो मैं उन्हीं के पास चली जाऊँ। सेवक की यही तो कठिनाई है। स्वामी पर संकट आए, तो सेवक अपने आप ही मारा जाता है।'

'भौंकती बहुत हो।' एक रक्षिका उसकी ओर बढ़ी।

'पर तुम्हारे समान सबको काटती तो नहीं।'

'बहुत ठीक कहा।' सुदेष्णा हँस प ी। उसने अपने संकेत से आगे बढ़ती रक्षिकाओं को वहीं रोक दिया और कोमल स्वर में सैरंध्री से पूछा, 'घर कहाँ है तुम्हारा? यहाँ किसी सम्बन्धी के पास आई हो?'

मालिनी उदास हो गई। कुछ देर के पश्चात् उसने अपने नयन उठा कर रानी की ओर कुछ इस प्रकार देखा, जैसे कहना चाह रही हो कि मुझसे यह सब मत पूछो। फिर स्वयं ही धीरे से बोली, 'नहीं ! यहाँ मेरा कोई संबंधी नहीं है। महारानी ! मुझसे मेरे घर-द्वार का पता और मेरे पति का नाम इत्यादि न पूछें।'

रानी की उत्सुकता जाग उठी थी....जिनकी सेवा की उनका नाम-पता तो बिना पूछे बता दिया और अपने विषय में कुछ बताना ही नहीं चाहती....

'विवाहिता हो अथवा अपने वियुक्त प्रेमी की खोज में यहाँ-वहाँ भटक रही हो?' रानी ने पूछा।

सैरंध्री ने पूरी खुली आँखों से रानी की ओर देखा, 'विवाहिता हूँ। मेरे पति किसी विपत्ति में फँस कर विदेश गए हैं, और उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर मेरे श्वसुर ने मुझे घर से निकाल दिया है। अपने पति के लौटने तक मैं सर्वथा निराश्रित हूँ। उनके आने तक कहीं आश्रय खोज रही हूँ।'

'कौन हैं तुम्हारे पति?'

'किसी सैरंध्री के पति इतने प्रसिद्ध व्यक्ति तो नहीं हो सकते कि उनका नाम सुनते ही आप उन्हें पहचान जाएँगी, फिर भी मैं उनका नाम-पता नहीं बताना चाहती।' सैरंध्री बोली।

'क्यों?' रानी ने कुछ चकित भाव से पूछा, 'इसमें इतना गोपनीय क्या है? क्या गांधर्व विवाह किया है?'

'नहीं।' सैरंध्री पहली बार तनिक मुस्कराई।

रानी स्तब्ध रह गई : यह सैरंध्री तो जैसे कोई उल्का थी। उसकी दंत-पंक्ति देख कर किसी का भी हृदय पिघल कर बूँद-बूँद बह जाएगा, और यदि कहीं वह पुरुष-हृदय हुआ तो उसका स्पंदित न होना ही कठिन था। सैरंध्री की मुस्कान थी या शरद पूर्णिमा की उजास !....रानी ने पहली बार उसके अधरों को ध्यान से देखा था....कामदेव का पुष्पधनुष ही साक्षात प्रकट हो गया था....प्रकट क्या हो गया था, सामने ख े व्यक्ति के हृदय को अपनी प्रत्यंचा में फँसा कर अपनी ओर खींचने लगता था। न ख ा रहने देता था न गिरने देता था। न मुक्त करता था, न मुक्त होने की कामना जगने देता था।....

'तो पति का नाम क्यों नहीं बताना चाहती?'

'उससे मेरे श्वसुर-कुल का अपयश फैलेगा।'

'जिस श्वसुर ने तुम्हें घर से निकाल दिया, उसके कुल के यश की चिंता क्यों है तुम्हें?' रानी ने जैसे प्रश्न नहीं पूछा था, सैरंध्री के व्यवहार के प्रति अपनी आपत्ति प्रकट की थी।

'मुझे चिंता अपने श्वसुर के कुल की नहीं, महारानी ! अपने पति के कुल की है।' सैरंध्री बोली, 'मुझे श्वसुर ने घर से निष्कासित किया है, पति ने नहीं। मेरे पति के लौटते ही मुझे सब कुछ मिल जाएगा, चाहे मेरे श्वसुर को ही घर से क्यों न निकलना प े।'

'बहुत विचित्र है तेरा श्वसुर-कुल !' सुदेष्णा ने कहा, 'जहाँ पिता और पुत्र में इतना भेद है कि पुत्र के उपस्थित न होने पर श्वसुर अपनी पुत्रवधू को घर से निकाल देता है, और पुत्र लौटता है तो अपनी पत्नी को घर में प्रतिष्ठित करता है और अपने पिता को निष्कासित कर देता है !'

'कुछ ऐसा ही है महारानी !' सैरंध्री बोली।

'और यदि तेरे पति ने लौट कर भी अपने पिता का विरोध न किया तो?' रानी मुस्करा रही थी।

'तो मैं आपको उनका नाम-गाम, सब कुछ बता दूँगी।' सैरंध्री का आत्मविश्वास उसके शब्द-शब्द से टपक रहा था।

'क्या तुम प्रमाणित कर सकती हो कि तुम सचमुच वैसी अच्छी सैरंध्री हो, जो सत्यभामा और द्रौपदी की सेवा में रह सके?' सुदेष्णा ने कहा, ' अपने बालों की तो तुमने वेणी तक नहीं कर रखी। कौन मानेगा कि तुम्हें केश-श्रृंगार की कला का कोई ज्ञान है !'

'मैं अपना केश-विन्यास केवल अपने पति के लिए करती हूँ, महारानी।' सैरंध्री बोली, 'वे लौट आएँगे और मुझसे प्रसन्न होंगे, तो उनको रिझाने के लिए वेणी भी करूँगी, और अपना श्रृंगार भी।' वह रानी के निकट चली आई, 'महारानी ! वैसे तो सैरंध्री का कार्य एक साधारण दासी भी कर लेती है, किंतु वास्तविक कला का पता तो तब लगता है, जब सैरंध्री का हाथ लगते ही आपका रूप दोगुना हो उठता है। आप स्वयं को दर्पण में निहार-निहार कर अपने ही रूप पर मुग्ध होने लगती हैं और सोचती हैं कि इतनी सुन्दर तो मैं पहले कभी नहीं थी।'

'बातें तो बहुत लुभावनी कर लेती हो।' रानी भी मुस्कराई, 'किंतु अपनी बात का प्रमाण दो तो जानूँ।'

'सैरंध्री ने जैसे चुनौती स्वीकार की, 'अनुमति हो तो अपनी कला का चमत्कार प्रस्तुत करूँ।'

'चल धानुके।' रानी ने अपनी एक दासी को सम्बोधित किया, 'बैठ जा सैरंध्री के सम्मुख। यह तुम्हारा केश-श्रृंगार करेगी।'

'क्षमा हो, महारानी !' सैरंध्री तत्काल बोली, 'मालिनी की कला दासियों के भाग्य में नहीं है। यदि मेरी कला का चमत्कार देखना हो तो या तो आप ही यह कष्ट करें, अथवा राजकुमारी को अनुमति दें।'

रानी के मन में रोष जागा, यह सैरंध्री अपने आपको समझती क्या है....इसका अंहकार क्या रानी सुदेष्णा की आज्ञा का तिरस्कार करेगा?....किंतु रानी ने स्वयं को संयत किया : किसी की कला को परखे बिना, उसके विषय में अपनी धारणाएँ नहीं बना लेनी चाहिए। कलाकार अत्यन्त संवेदनशील होता है। उसकी कला का अपमान हो तो वह राजाओं और राजाज्ञाओं तक का तिरस्कार कर सकता है।....

'अच्छा धानुके ! मेरी ही प्रसाधन सामग्री ले आ। मैं अपने ही केशों पर इसकी कला का चमत्कार देखूँगी।'

दासियाँ दौ प ीं और तत्काल सामग्री और उपकरण प्रस्तुत कर दिए गए।

रानी ने दर्पण अपने हाथ से नहीं छो ा और उनकी दृष्टि दर्पण से हट नहीं पाई।....एक क्षण में लग रहा होता था कि सैरंध्री इस कला में निपट अना ी है। उसे इस कर्म का तनिक भी अभ्यास नहीं है; और अगले ही क्षण उसका हाथ रानी के केशों को कुछ इस प्रकार व्यवस्थित कर देता था कि लगता था, इस सैरंध्री से श्रेष्ठ सज्जाकर्मी इस संसार में नहीं है।....जैस-जैसे सैरंध्री अपने काम में तल्लीन होती जाती थी, रानी सुदेष्णा उसकी कला पर मुग्ध होती जाती थीं।....और जब सैरंध्री ने अपना काम समाप्त कर एक निरीक्षक दृष्टि उनके केशों पर डाली तो स्वयं रानी को लगा कि दर्पण में वे स्वयं नहीं कोई और ही रूपसी बैठी हुई थी। रानी चमत्कृत हो अपने दर्पण से पूछ रही थीं कि यदि यह उनका ही रूप था तो उस धृष्ट दर्पण ने उसे अब तक कहाँ छिपा रखा था? यदि कहीं यह सैरंध्री उनके यौवन में उनके पास आई होती तो कदाचित् रानी सुदेष्णा संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के रूप में प्रसिद्ध हुई होती; किंतु अब इस ढलते वयस में वे उसका क्या लाभ उठा पाएँगी?..और सहसा रानी का मन बदल गया....यौवन में उन्हें किसी सैरंध्री की क्या आवश्यकता थी? उनका अपना रूप ही पर्याप्त था, विराट के मन में झंझावात् उठा देने के लिए....। सैरंध्री की आवश्यकता तो वस्तुतः अब ही थी, जब उनके ढलते रूप को किसी बैसाखी की आवश्यकता थी।....ठीक ही समय पर आई थी यह सैरंध्री। आज उन्हें उसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी, जब उनका रूप विराट को आकृष्ट करने में असफल होता प्रतीत हो रहा था।....वे कीचक से रुष्ट थे, और सुदेष्णा का रूप उन्हें यह भुला देने को बाध्य नहीं कर पा रहा था कि कीचक सुदेष्णा का भाई था। यह सुदेष्णा के रूप की असफलता ही तो थी।....और अब उन्हें मिल गई है यह सैरंध्री। इस रूप में तो वे

कदाचित् उत्तरा से भी अधिक आकर्षक दीख रही हैं।....उत्तरा में उसके वयस का आकर्षण तो है, किंतु इस समय कोई उन्हें देखे तो वह मानने को प्रस्तुत नहीं होता कि वे उत्तरा की जननी हैं। अधिक से अधिक तो कोई यही कह सकता है कि वे उसकी भगिनी हैं।....

'महारानी, यदि आप इस केश-सज्जा के साथ अपने कानों में कर्णफूलों के स्थान पर कर्णवलय धारण कर लें तो आपका वयस कम से कम पाँच वर्ष और भी कम हो जाएगा।'

सुदेष्णा ने सैरंध्री की बात सुनी, उस पर विचार भी किया; किंतु उससे सहमत नहीं हो सकीं। वे रानी हैं सैरंध्री नहीं, किंतु प्रसाधन-विद्या का कुछ ज्ञान उनको भी है। सैरंध्री की यह बात उनको उचित प्रतीत नहीं हो रही थी; परंतु प्रयोग करने में हानि ही क्या थी ! यदि सैरंध्री का कथन असत्य प्रमाणित हो गया, तो उसका अंहकार खंडित होगा और सत्य निकला तो रानी का रूप और निखर आएगा।'....

रानी ने अपनी प्रसाधिका की ओर देखा, 'कर्णवलय लाओ।'

'महारानी ! जब मँगवाने ही लगी हैं तो एक पद्मवर्णा सा ी भी मँगवा लें और उन्हें धारण कर अपने रूप का परीक्षण महाराज पर करके देखें।' सैरंध्री बोली।

रानी ने उसकी ओर जो दृष्टि डाली उसमें हल्की-सी वर्जना थी कि वह कहीं मर्यादा का अतिक्रमण कर रही है; किंतु प्रसाधिका को मना नहीं किया। कहा, 'ले आओ।'

सैरंध्री ने उस बार रानी के हाथ में दर्पण नहीं रहने दिया। दर्पण देखने का अवकाश रानी को तब ही दिया, जब सैरंध्री अपना पूर्ण संतोष कर चुकी।

दर्पण देख कर सुदेष्णा चकित रह गईं : वस्तुतः यह थी रानी सुदेष्णा; और आज तक उनकी प्रसाधिकाओं ने उन्हें क्या बना रखा था ! क्या रानी अपनी उन प्रसाधिकाओं को अपना रूप विकृत करने के ही पारिश्रमिक देती रही है? वे प्रसाधिकाएँ उनके सौन्दर्य को विकसित और अनावृत करने के स्थान पर तिरस्कृत और आवृत करती रहीं और रानी से प्रशंसा भी पाती रहीं तथा पुरस्कार भी। किंतु अब और नहीं। रानी ने अपना वास्तविक रूप देख लिया था। आज रानी की इच्छा हो रही थी कि वे अपनी उन पुरानी प्रसाधिकाओं को इतने दिनों तक सुदेष्णा को कुरुप बनाए रखने के अपराध में आजीवन कारावास दे दें। पता नहीं किस माया से वे आज तक उस कला की विशेषज्ञ मानी जाती रहीं, जिसका उनको कण-मात्र भी ज्ञान नहीं है ! आज भी यदि यह सैरंध्री न आई होती तो न वे अपने रूप को ही देख पातीं, न प्रसाधन-कला के चमत्कार को।....

रानी अपने मन के द्वंद्व को समझ नहीं पा रही थीं : इस समय उनकी उत्कट इच्छा क्या थी- अपनी पुरानी प्रसाधिकाओं को कारागार में डालना, अथवा इस नई सैरंध्री को अपने श्रृंगार के लिए अपनी बंदिनी बना लेना? यदि कहीं यह सैरंध्री उनके पास न टिकी और अन्यत्र चली गई तो रानी सुदेष्णा तो फिर से उन पुरानी प्रसाधिकाओं के कुरुचिपूर्ण श्रृंगार की ही आश्रित रहने को बाध्य हो जाएँगी। इसलिए इस सैरंध्री को किसी प्रकार आजीवन यहीं रोक रखने की कोई व्यवस्था अधिक आवश्यक थी....किंतु यदि वह सहमत न हुई तो? क्या रानी उसे सहज ही छो देंगी? नहीं। शायद यह उनके लिए संभव नहीं होगा। वे इस सैरंध्री को नहीं छो सकतीं। किसी भी प्रकार नहीं। सैरंध्री को यहाँ रहना ही होगा। अपनी इच्छा से रहे तो, रानी की आज्ञा से रहे तो। रहना तो उसे प ेगा ही। सैरंध्री यहाँ रहेगी तो उसकी उपस्थिति मात्र से ही सुदेष्णा की ये अज्ञानी और फूह प्रसाधिकाएँ भी बहुत कुछ सीख जाएँगी।....

'पर यदि सैरंध्री यहाँ न रुकी, उसने जाने की हठ की?' सुदेष्णा के हृदय से एक आशंकित स्वर उठा।

....और तभी रानी की बुद्धि ने उस आशंका को सुला दिया, 'तो उसे बता देना प ेगा कि सुदेष्णा भी कोई साधारण स्त्री नहीं है, वह भी कीचक की बहन है।....'

'अच्छा ! अब तुम लोग जाओ।' रानी ने अपनी दासियों से कहा, 'तुम यहीं ठहरो सैरंध्री ! मुझे तुमसे कुछ कहना है।'

सैरंध्री मन ही मन मुस्कराई : मैं जानती थी सुदेष्णा ! कि यही होगा; किंतु प्रकटतः भय प्रदर्शित करती हुई बोली, 'मुझसे कोई अपराध हो गया, महारानी?'

दासियों के जाने तक रानी ने कुछ नहीं कहा, किंतु उनके जाने के पश्चात् धीरे से बोलीं, 'तुमने ऐसा क्यों समझा, सैरंध्री?'

सैरंध्री ने कोई उत्तर नहीं दिया, बस सिर झुकाए चुपचाप ख ी रही।

'नहीं बताना चाहती?'

सैरंध्री ने अस्वीकृति में अपना सिर हिला दिया।

'अच्छा मत बताओ।' रानी हँस प ी, 'यह तो बताओ कि तुम अपने पति के लौटने तक किस प्रकार का आश्रय ढूँढ रही हो?'

'आश्रय किस प्रकार का हो सकता है, महारानी !' सैरंध्री बोली, 'मैं पापपूर्ण जीवन व्यतीत करना नहीं चाहती। मैं भिक्षा पर निर्भर रहना नहीं चाहती। प्रभु ने मुझे सक्षम शरीर दिया है और मेरे हाथों में कला दी है। सैरंध्री का कार्य करूँगी और उसके प्रतिदान में आश्रय चाहूँगी।'

'जो भी आश्रय दे?'

'जो भी धर्मपूर्वक आश्रय दे।'

'क्या मेरे पास रहना तुम्हे प्रियकर होगा?' रानी ने आतुरतापूर्वक पूछा।

रानी ने पूछ तो लिया, किंतु तत्काल ही उनके मन में जैसे उनचासों पवन हरहरा उठे। धरती के नीचे मानों शेषनाग का फन डोलने लगा।....वे क्या कर रही हैं? इस स्त्री को अपने घर में आश्रय देना चाहती हैं, जिसे देखते ही राजा विराट अपने सम्पूर्ण चित्त से उसमें आसक्त हो जाएँगे। इस दिव्य रूप को एक बार देख लेने के पश्चात् वे पलट कर सुदेष्णा की ओर देखेंगे भी?....वे ऊपर उठने के लिए वृक्ष पर चढ़ना चाहती हैं अथवा गिर कर आत्महत्या करने के लिए? वे क्या मादा केंक े के समान गर्भ धारण करना चाहती हैं कि प्रसव के होते ही उनकी मृत्यु हो जाए? वे इस रूप की ज्वाला को अपने घर में रखना चाहती हैं, जिसकी उपस्थिति मात्र से उनके घर में आग लग सकती है?....

किंतु अपने जिस दैवी रूप को वे आज अपने दर्पण में देख रही थीं, वे उसे खोना नहीं चाहती थीं। उस रूप के रहते राजा विराट को मुग्ध करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।....और फिर कीचक था वहाँ। राजा विराट कीचक की इच्छा के विरुद्ध तो जा ही नहीं सकते थे।....

'सोच कर तो मैं यही आई थी, महारानी ! किंतु यहाँ के लोगों का विचित्र व्यवहार और सैनिकों का दुर्व्यवहार देख कर मेरा मन कुछ डर-सा गया है। जिस राज्य में अकेली नारी की रक्षा नहीं होती, मानना चाहिए कि वहाँ धर्म नहीं है। वहाँ मैं कैसे रह सकती हूँ !'

सुदेष्णा ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया : क्या उत्तर देतीं? क्या वे नहीं जानतीं कि विराटनगर के सैनिक कितने उत्पाती हो गये थे ! उन्हें अपने बल और अधिकार का अहंकार हो गया था, और राजा थे कि इच्छा होने पर भी उनको अनुशासित नहीं कर पा रहे थे। कीचक पर उनका कोई वश नहीं था और सारी सेना कीचक के आधीन थी। सैनिक कीचक का ही भय मानते थे और उसी की आज्ञा के अनुचर थे।....कीचक ने सेना को, राजा की इच्छा के विरुद्ध अपने वश में रखने की यही युक्ति अपनाई थी। वह सैनिकों के विरुद्ध कुछ नहीं सुनता था। और न ही स्वयं उनको किसी प्रकार का दंड देता था। अब तो सैनिकों को मनमानी करने का अभ्यास ही हो गया था। पिछली बार राजा ने कीचक के एक सैनिक को अपने अंगरक्षकों के द्वारा बंदी बनाया था तो सैनिकों ने सामूहिक रूप से राजप्रासाद को घेर लिया था। सब जानते थे कि सेना के बिना शासन नहीं हो सकता और सेना कीचक की आज्ञा में थी। कौन नहीं जानता कि बकासुर के समान ही राजा की सहायता के नाम पर कीचक विराटनगर की प्रजा को भा रहा था।....कई बार सोचा था राजा ने कि सैनिकों को अपने पक्ष में करने के लिए, वे भी सैनिकों को ऐसी छूट दे दें, जैसी कीचक देता है, किंतु वे वैसा नहीं कर सकते थे। वे देश के राजा थे, मात्र सेनापति नहीं। उन्हें अपनी सम्पूर्ण प्रजा का पालन करना था, केवल सेना का नहीं। वे अपनी प्रजा को पीि त कर अपनी सेना को प्रसन्न नहीं कर सकते थे। कीचक मात्र सेनापति था, वह केवल युद्धों और सेनाओं के विषय में सोचता था। उसके लिए प्रजा का कोई अस्तित्व नहीं था। यद्यपि सेना प्रजा के लिए ही होती है, किंतु वह प्रजा के प्रति अपना कोई दायित्व नहीं मानता था। उसके लिए सेना ही सब कुछ थी। इसलिए वह जिस प्रकार सेना को प्रसन्न कर सकता था, राजा नहीं कर सकते थे।

'पुरुषों के राज्य में स्त्री सदा इसी प्रकार असुरक्षित रहती है सैरंध्री !' अन्ततः रानी धीरे से बोलीं, 'इसके लिए हम क्या कर सकती हैं ! पर, तुम यहाँ मेरे पास रहोगी, तो तुम्हें कोई कुछ नहीं कहेगा।'

सैरंध्री एक बार फिर मन ही मन मुस्कराई : रानी ने बहुत सोच-विचार कर न्याय और अन्याय का नहीं, पुरुषों और स्त्रियों का विषय आरंभ कर दिया था। रानी चतुर राजनीतिज्ञ थीं।

'पुरुषों के राज्य में स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं हैं : किंतु यहाँ, आपके पास रह कर मैं सुरक्षित हो जाऊँगी। आपके पास रहने से क्या राज्य स्त्रियों का हो जाएगा?' सैरंध्री ने अबोध भाव से पूछा।

रानी क्षणभर के लिए हतप्रभ रह गई। उन्हें सैरंध्री से इस प्रकार के प्रश्न की तनिक भी अपेक्षा नहीं थी। उसने इतना उद्दंड प्रश्न इतने अबोध भाव से किया था कि रानी न उसे दंडित कर सकती थीं और न ही वे उसे इस अपराध के लिए क्षमा करना चाहती थीं. . . .दंडित करतीं तो उनका श्रृंगार कौन करता, और क्षमा कर देतीं तो सैरंध्री और भी ऐसे प्रश्न कर उनका वक्ष छलनी न करती रहती। एक ही मार्ग था कि वे मान लेतीं कि वह एक अबोध प्रश्न था, जिसका पूछनेवाला भी नहीं समझ रहा था कि वह क्या पूछ रहा है. . . .

'नहीं ! राज्य तो स्त्रियों का नहीं हो जाएगा, किंतु यहाँ मैं तुम्हारी रक्षा कर सकती हूँ।'

'जब यहाँ कर सकती हैं, तो बाहर, वहाँ मार्ग पर, पथ पर क्यों नहीं? सारे राज्य में क्यों नहीं? मेरी ही क्यों, किसी भी स्त्री की रक्षा आप क्यों नहीं कर सकतीं? रानी तो पूरे राज्य की रानी होती है, केवल अपने प्रासाद की नहीं। और फिर स्त्रियों की ही क्यों, पुरुषों की रक्षा क्यों नहीं? रक्षा की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है।'

'पुरुष समर्थ है, इसलिए वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है।' रानी बोली।

'हाँ। वह पुरुष समर्थ ही होता है, जिसकी हत्या हो जाती है।' सैरंध्री बोली, 'और वह अपने हत्यारे का कुछ नहीं कर सकता।'

सुदेष्णा ने सैरंध्री को इस प्रकार देखा, जैसे उसे पहली बार देख रही हों। वे शायद उसे पहली बार ही देख रही थीं। इससे पहले उन्होंने जिस सैरंध्री को देखा था, उसमें केवल रूप ही था। यह सैरंध्री, जिसे वे इस समय देख रहीं थीं, उसमें बुद्धि भी थी। वह तर्क कर सकती थी, निष्कर्ष निकाल सकती थी, तुलना कर सकती थी। प्रतिभायुक्त होने से उसके सौन्दर्य में जैसे और भी निखार आ गया था। . . .पर वे इस सैरंध्री की कला को तो अपने निकट रखना चाहती थीं, जो उनके रूप का श्रृंगार कर सके, उसके उस रूप को अपने निकट नहीं देखना चाहती थीं, जो प्रत्येक पुरुष की दृष्टि को रानी सुदेष्णा के मुखमंडल से हटा कर अपनी ओर खींच ले। वे उसकी उस बुद्धि को तो अपनी सेवा में देखना चाहती थीं, जो उनके सौन्दर्यवर्द्धन के लिए युक्तियाँ सोच सके, उसकी उस तर्कशक्ति को अपने निकट देखना नहीं चाहती थीं, जो उनकी अपनी उक्तियों के आत्मविरोधी तत्वों को रेखांकित कर उनकी दृष्टि के सम्मुख रख दे। . . .पर वे क्या कर सकती थीं, इस सैरंध्री की कला इन अँगुलियों के बिना उन्हें नहीं मिल सकती थी, और ये अँगुलियाँ उस सुन्दर और आकर्षक शरीर के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती थीं। और यह शरीर यहाँ रहेगा तो उसमें निवास करने वाली यह बुद्धि भी यहीं रहेगी. . . .

'ठीक कहती हो, सैरंध्री !' सुदेष्णा ने उत्तर दिया, 'रानी तो पूरे राज्य की ही होती है, और वह मैं हूँ। स्थिति में अंतर केवल इतना है कि प्रासाद में हमारे वे अंगरक्षक हैं, जो महाराज के प्रति निष्ठावान हैं, और मार्गों और पथों पर वे सैनिक हैं, जो सेनापति की वाहिनियों के अंग हैं और वे केवल सेनापति का भय मानते हैं। जब वे राजा का ही भय नहीं मानते, तो रानी की आज्ञा क्या मानेंगे !'

इस बार सैरंध्री चल कर रानी के निकट आ गई। उनके पास भूमि पर बैठ गई और धीरे से बोली, 'महारानी ! राज्य तो यहाँ भी महाराज का है, और पूरे मत्स्यदेश में भी। यहाँ भी उनके ही सैनिक हैं और पूरे देश में भी। फिर भी आप यहीं मेरी रक्षा कर सकती हैं, अन्यत्र नहीं। क्यों? सैनिक यहाँ भी राजा के हैं और पूरे मत्स्यदेश में भी। राजा भी पुरुष हैं, आपके सेनापति भी और सैनिक भी। फिर भी आप यहीं मेरी रक्षा कर सकती हैं, विराटनगर के मार्गों पर नहीं, पथ-वीथियों में नहीं। क्यों?'

'कहा न ! यहाँ हमारे निष्ठावान सैनिक हैं।'

'यदि ये सैनिक भी सेनापति के प्रति निष्ठावान होते तो?'

'तो कदाचित् मैं यहाँ भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर पाती।' रानी ने स्वीकार किया।

'रहते तो तब भी पुरुष ही, आज भी वे पुरुष ही हैं।' सैरंध्री बोली।

'पुरुष नहीं रहते तो क्या वृहन्नला हो जाते !' रानी को जैसे अपने ही वाक्य में रस मिला।

सैरंध्री को रानी का यह परिहास अच्छा नहीं लगा। बोली, 'यह कौन है, महारानी?'

'दो-तीन दिन पूर्व ही हमारे यहाँ एक नपुंसक आया है।'

'महारानी मेरे कहे से रुष्ट न हों तो कहूँ कि आप उन पर तो कटाक्ष करती नहीं जो पुरुष होकर भी क्लीव बने हुए हैं। वृहन्नला तो ईश्वर के आदेश का पालन कर रहा है।'

सैरंध्री का तेज रानी पर भारी प रहा था, किंतु कह तो वह ठीक ही रही थी।

सैरंध्री ने भी रानी की अप्रसन्नता भाँप ली। बोलीं 'महारानी, मैं तो केवल एक बात कहना चाह रही हूँ कि समाज इस प्रकार बँट कर नहीं चल सकता कि पुरुषों का राज्य है तो स्त्री असुरक्षित रहे और स्त्रियों का राज्य आये तो पुरुष स्वयं को असुरक्षित पाए। प्रश्न पुरुषों और स्त्रियों का नहीं है। न ही प्रकृति की ओर से उनमें परस्पर किसी प्रकार का विरोध है। प्रकृति ने तो उन्हें एक प्रकार से एक-दूसरे का पूरक बनाया है। यदि वे एक-दूसरे को अपना शत्रु मानने लगें, तो कोई पत्नी अपने पति, और कोई पति अपनी पत्नी की निकटता में सुरक्षित नहीं रहेगा।'

'तो तुम समझती हो कि स्त्री अपने पति की ओर से सुरक्षित है?'

'न होती तो उसका भोजन पकाते हुए उसमें विष डालकर उसकी हत्या कर डालती।'

'चलो मान लेती हूँ कि स्त्री अपने पति के साथ अथवा उसके अधीन तो सुरक्षित है, किंतु वह पर-पुरुष से तो सुरक्षित नहीं है।'

'प्रश्न स्त्री और पुरुष का तो है ही नहीं, महारानी ! प्रश्न तो न्यायी और अन्यायी का है। जिसके निकट पर-स्त्री सुरक्षित नहीं है, उसकी रक्षा में तो अपनी पत्नी भी सुरक्षित नहीं है। जो स्त्री, पर-पुरुष को लूट सकती है, उसकी निकटता में उसके अपने पति का धन भी सुरक्षित नहीं है। मैं तो सैनिकों को भी अच्छा और बुरा नहीं कहना चाहती। वे ही सैनिक किसी न्यायी व्यक्ति के अधीन कार्य करते हैं तो प्रजा के रक्षक बन जाते हैं और जब वे ही किसी दुष्ट की आज्ञा के अधीन होते हैं तो राक्षस हो जाते हैं।'

'कहती तो तुम ठीक हो, सैरंध्री।' रानी ने कहा, ' मुझे लगता है कि हमारे सेनापति ने ही अपना धर्म त्याग दिया है।'

रानी कह तो गईं, किंतु शब्दों के मुख से निकलते ही, वे सजग हो गईं। वे अपने भाई के विषय में क्या कह गईं ! उसी के कारण तो वे राजा के सम्मुख भी झुकने को बाध्य नहीं हैं। उसी के कारण तो उनका यह वर्चस्व बना हुआ है, और वे उसी के विषय में कह रही हैं, कि वह धर्म को त्याग चुका है।....

पर अपने मन में कहीं वे यह भी मानती थीं कि कीचक अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर रहा है।....किंतु एक सैरंध्री के सम्मुख यह स्वीकार करना?....यह तो रानी को शोभा नहीं देता....

'जिस राज्य का सेनापति धर्म त्याग दे और राजा उसके सम्मुख असहाय हो जाए, वहाँ तो न राजा सुरक्षित है, न रानी ! प्रजा का तो कहना ही क्या !'

सुदेष्णा सैरंध्री से तनिक भी सहमत नहीं थीं। वे यह कैसे मान लेतीं कि वे अपने भाई के अधिकार-क्षेत्र में सुरक्षित नहीं हैं। हाँ ! वे उसके सैनिकों से किसी की रक्षा नहीं कर पातीं, यह बात और है। पर ये सब उनकी अपनी पारिवारिक बातें थीं। इनके विषय में वे एक साधारण सैरंध्री से चर्चा करना नहीं चाहती थीं।

'तो फिर मेरी रक्षा कौन करेगा, महारानी?' सैरंध्री पूछ रही थी।

'मेरे अंगरक्षक तुम्हारी रक्षा करेंगे।' महारानी ने उत्तर दिया।

'नहीं रानी ! रक्षा तो अंग-रक्षक भी नहीं करते। स्त्री हो या पुरुष, व्यक्ति हो या समाज। रक्षा तो बस धर्म ही करता है। इसीलिए कहा जाता है कि धर्म का तिरस्कार नहीं होना चाहिए, न राजा के द्वारा, न सेनापति के द्वारा। मेरी रक्षा भी मेरा धर्म ही करेगा; इसलिए आपसे मुझे यह वरदान चाहिए कि मुझे अपने धर्म पर चलने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी।'

'अवश्य।' रानी उत्साहपूर्वक बोलीं।

'उसके लिए मुझे आपका आश्वासन चाहिए।'

'कैसा आश्वासन, सैरंध्री?'

'आप मुझे अपने सिवाय किसी और की सेवा में नहीं भेजेंगी और मैं अपनी इच्छानुसार अवगुंठनवती रह सकूँगी।' सैरंध्री बोली, 'मेरी कला का सम्मान होगा, अतः मुझे एक कलाकार की

प्रतिष्ठा मिलेगी, दासी का स्थान नहीं। न मुझे किसी का उच्छिष्ट भोजन छूना प`गा, न किसी के चरण।'

रानी को लगा, सैरंध्री की इन दो बातों में कुछ भी अनुचित नहीं है। यदि वह यह आश्वासन स्वयं ही न माँगती तो भी रानी उसे अपनी निजी सैरंध्री ही नियुक्त करना चाहती थीं। वे नहीं चाहती थीं कि किसी और का भी उतना सुंदर श्रृंगार हो, जितना रानी सुदेष्णा का। अवगुंठनवाला वचन भी तो ठीक ही तो है कि उसका अद्‌भुत रूप सबके सामने नहीं आना चाहिए। . इस रूप को देख कर तो किसी भी पुरुष का मन अनियंत्रित हो सकता है। सैरंध्री तो सैरंध्री, स्वयं रानी भी किसी का विश्वास नहीं कर सकतीं। उन्हें तो सबसे अधिक आशंका स्वयं मत्स्यराज की ओर से ही थी। यदि राजा को ही सैरंध्री भा गई तो सुदेष्णा का आश्वासन क्या कर लेगा और सैरंध्री का धर्म ही क्या कर लेगा !....

रानी ने अपने सिर को एक झटका दिया। वे एक साधारण स्त्री के समान क्या सोचने लगीं। क्या विराट ने आज तक कभी पर-स्त्री के प्रति इस प्रकार की लिप्सा प्रकट की है? . . . .

किंतु रानी का मन जैसे अपने ही तर्कों के विरुद्ध व्यूहबद्ध हो रहा था, 'नहीं ! महाराज ने आज तक तो इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं दिखाई; किंतु आज तक उनके सामने इतनी रूपवती स्त्री भी तो नहीं आई। यह सैरंध्री क्या कोई साधारण स्त्री है?'

यदि सैरंध्री को अपने प्रासाद में अपने निकट रखने में इतना ही संकट था तो सुदेष्णा इस प्रकार का संकट मोल ही क्यों ले रही थीं? उन्हें उसी क्षण सैरंध्री को यहाँ से विदा कर देना चाहिए था . . .

पर नहीं ! सुदेष्णा के मन में एक रूपगर्विता नारी भी बैठी थी। वह यह विचार भी कैसे सहन कर सकती थीं कि उस सैरंध्री को यहाँ से चुपचाप विदा कर दिया जाए, जो उनके रूप को आज भी नवयौवनाओं के रूप से अधिक आकर्षक बना सकती थी। उसे विदा करने का अर्थ था, रानी सुदेष्णा के सौन्दर्य को विदा कर देना। सुदेष्णा के नारी सुलभ आकर्षण को समाप्त कर देना . . . . सुदेष्णा अपने प्राण दे सकती थीं, किंतु अपने रूप के प्रति यह मोह नहीं छो सकती थीं . . . .

'ठीक है सैरंध्री ! मुझे तुम्हारी दोनों बातें स्वीकार हैं। तुम केवल मेरी सेवा में रहोगी, और जिस स्त्री अथवा पुरुष के सम्मुख तुम नहीं आना चाहोगी, उसके लिए तुम्हें कोई भी बाध्य नहीं करेगा। तुम न किसी के चरण छूओगी, न किसी का उच्छिष्ट भोजन !'

मैं बंजारन

बनवारी शर्मा

मैं बंजारन, तृषित चातक, आँसू, आहें, मेरे गीत।
उर में मेरे स्वप्न शून्य, कराहें मधुर-मधुर मेरे गीत।
धूल के पथ की मैं राही, नेत्रों में मेरे डूबी आह, सागर की गहराई।
क्षत-विक्षत परिधान मेरे, युगों-युगों की धूल-धूसरित मेरी कहानी।
पश्ताचाप, प्रेम, पी ा, प्रश्नचिह्न-सा मेरा यौवन, जलते नभ में इक टूटे तारे-सी।

काला लिबास

डा. सुषम बेदी

उसकी खनखनाती हँसी कमरे भर की किताबों और तस्वीरों पर चिपकी हुई थी। यों उस कमरे में हँसी कोई आम बात नहीं थी। सभी ओढ़े हुए, डरे हुए या कुछ और हुए होते थे। ख़ास तौर से नये-नवेले छात्र। पर वह यहाँ आते ही एकदम सहज हो उठती थी। वह मुझसे कहती भी थी... "आपका दफ़्तर इस पूरी यूनिवर्सिटी से अलग है। हिंदी की किताबें... तस्वीरें... बड़ा अपना-अपना-सा लगता है यहाँ आकर!"

अब कुछ-कुछ वैसा ही चेहरा उम्र के बीस-पच्चीस अधिक साल लपेटे मेरे सामने बैठा था। पर अनन्या से कितना फ़र्क। जिस तरह बाँह के दोनों जोड़ों में मुट्ठियाँ घुसाए तनी हुई बैठी थी ये महिला, अनन्या तो कहीं दूर से भी इससे जुड़ी नहीं दिखती! वह तो या खड़ी रहती थी या आराम से कुर्सी पर पसर जाती। पर मैं जानती हूँ कि सामने बैठी महिला अनन्या की माँ है और इसीलिए वह मुझसे मिलने आई है।

माँ जब मजबूर हो जाती है तो किसी के आगे भी झुकने या लड़ने को तैयार हो जाती है वर्ना जब तक मजबूरी का अहसास नहीं हो जाता तब तक वह चाहे अपने वात्सल्य के पात्र पर ही चोट करती रहती है। चाहे वह चोट घंटे से टंकार उगारने के लिए ही हो। लेकिन वह टंकार तो दूसरों के सुनने भर के लिए ही होती है। घंटे पर गुज़री तो घंटा ही जाने!

सामने वाली महिला का चेहरा बड़ा क्षुब्ध-सा है। चेहरे के छोटे गोल नक्श शायद गुस्से की वज़ह से कुछ सूजे हुए से दीख पड़ते हैं। यों मुझे उससे हमदर्दी है लेकिन उसका जन्मजात रूखापन मुझे भीतर कहीं सुखाए दे रहा है। अनन्या ने कभी मुझसे कहा भी था, "मेरी माँ के लिए सबसे ज़्यादा अहम उसका कैरियर है... हम सब उसके बाद आते हैं!" अब इस तरह अपने सामने उसे कसा हुआ बैठा देख मैं कोई सांत्वना के शब्द भी नहीं उड़ेल पा रही। वैसे इसको मुझसे अनन्या की सिफ़ारिश करने की कोई ज़रुरत नहीं है। मैंने पहले ही डीन से कह दिया है कि अनन्या एक मेधावी और मेहनती छात्रा है और मुझे कभी उससे किसी तरह की भी शिकायत नहीं हुई। पर मेरे दफ़्तर आने से पहले इस महिला ने मुझे फ़ोन कर कहा था, "मैं डॉक्टर मनोचा बोल रहीं हूँ, अनन्या की मदर। मैं आपसे मिलना चाहती हूँ।"

मुझे उसका फ़ोन पाकर हैरानी नहीं हुई थी, मिलने की बात से भी हैरानी नहीं हुई थी। फिर भी उसकी आवाज़ का अंदाज़ कुछ ऐसा था... रोबीला-सा... कि मुझसे कुछ कहा नहीं गया। उसकी आवाज़ फिर सुनाई पड़ी, "मैं अनन्या के बारे में जितना ज़्यादा जान सकूँ... जानना चाहती हूँ। मुझे आपकी मदद की ज़रूरत है... वह आपके बारे में बहुत बात किया करती थी।

जिस तरह पत्नी पति की हरकतों को जाननेवाला आख़िरी व्यक्ति होती है उसी तरह जवान बच्चों की माँ बच्चे की हरकत को जाननेवाला शायद अंतिम व्यक्ति होती है। ख़ास तौर से जब बच्चे पंख लगा कर कॉलेज की दुनिया में उड़ आए हों तो! अब खेत चुगे जाने के बाद क्या ये फिर से खेती करना चाहती है। हमदर्दी की जगह में एक कड़वा-सा वाक्य उछाल देती हूँ -"वह घर से शायद कुछ असंतुष्ट थी। आप शायद उसे डॉक्टरी पढ़वाना चाहती थीं... आप और आपके पति दोनों डॉक्टर हैं न।"

वह कुछ चिढ़ती हुई सी बोली... "जी मैंने तो कभी उस पर कोई दबाव नहीं डाला... बचपन से ही जो चाहा करने दिया। बचपन में भी यह पियानो सीखती थी। यह तो जब से हिंदुस्तान से लौटी है बस तभी से इसे कुछ हो गया है।" उन्होंने आख़िरी वाक्य कहकर एक लंबी साँस भरी और हिंदुस्तान का नाम लेकर फिर कुछ बुड़बुड़ाई।

मुझे कुछ हँसी-सी आई। बंगाल का जादू तो सुना था मैंने पर यह हिंदुस्तान का जादू क्या था? यों हिंदुस्तान से लौटकर मुझे भी कुछ हो जाता है... जैसे कि घंटो सुस्त पड़े रहना। काम में मन न लगना। आवाज़ों की याद... दोस्तों और सगे-संबंधियों की याद... मौसम की याद... स्वादों और गंधों की

याद... बस एक मीठी-सी खुमारी छाए रहना। पर वह सब कुछ दिनों बाद छट जाता है, ज़िंदगी देर-सबेर ढर्रे पर आ ही जाती है। ऐसा तो नहीं होता कि कुछ आमूल-चूल परिवर्तन आ जाए। यों परिवर्तन होगा भी क्या? वहीं की मिट्टी से ही तो गढ़ी हुई हूँ मैं। बस वहाँ न हो पाने की कसक भर ही कभी-कभी उठ जाती है। लेकिन अनन्या तो यहीं की पैदाइश, यहीं पर पली-बढ़ी है। उसके भाई-बहन, माँ-बाप और दोस्त सब यहीं है। फिर उसे किस बात की कसक। हिंदुस्तान का जादू उसके सर चढ़ क्यों बोल रहा था।

हिंदुस्तान के प्रति कौतूहल तो ज़रूर उसमें पहले से रहा होगा क्योंकि कॉलेज के पहले साल में ही उसने हिंदी पढ़नी शुरू कर दी थी और मेहनत करके क्लास में अव्वल रहती थी। उसने बतलाया था कि इंडियाना में हाईस्कूल की पढ़ाई के दौरान भी अपने माँ-बाप के किन्हीं मित्र की पत्नी से उसने कुछ हिंदी सीखी थी। इसीलिए शायद मेरी क्लास में वह इतनी आसानी से आगे बढ़ती जा रही थी। दूसरे साल के शुरू में ही उसने ख़्वाहिश ज़ाहिर की थी कि वह यूनिवर्सिटी के "ज्यूनियर इयर अब्राड" प्रोग्राम के तहत साल भर के लिए पढ़ाई करने भारत जाना चाहती है। उसकी काबिलियत देख मैंने उसके लिए सिफ़ारिशी पत्र भी लिख दिया था। हर साल ही मैं कम से कम दो-चार विद्यार्थियों के लिए सिफ़ारिश के ख़त लिखती ही हूँ और अक्सर उनमें से एकाध भारतीय मूल का भी होता ही है। अपनी जड़ों की पहचान की जिज्ञासा भी कोई नयी बात तो नहीं। हाँ वह सिर्फ़ संवेदनशील युवक-युवतियों में ही होती है। और अनन्या की संवेदनशीलता तो उसके चेहरे से ही झलक जाती थी... बहुत कोमल, खूब घनी साँवली त्वचा और गहरी-गंभीर बेहद इंटेंस आँखें। देखने में बहुत सुंदर नहीं थी पर उन आँखों की शिद्दत और त्वचा के साँवलेपन में एक तरह की लुनाई उसे बहुत आकर्षक बना देती थी। बहुत मतलब के सवाल पूछती थी और फालतू बात एकदम नहीं। फिर भी भारतीय मूल के अन्य अमेरीकी विद्यार्थियों से कुछ अलग नहीं दीखती थी वह... उन्हीं की तरह अमरीकी पहनावा, तौर-तरीके, बातचीत का लहज़ा और खुशमिज़ाज़।

हिंदुस्तान में साल भर रह कर लौटने के बाद कुछ तबदीली ज़रूर दीखी थी मुझे अनन्या में। सबसे पहली बात तो पहनावे की थी। वह जब-जब मुझसे मिलने आई, रंगीन छपे कपड़े या कढ़ाई के कुरते सलवार पहने होती। उसका रंगों का चुनाव अमरीकी लड़कियों से फ़र्क हो गया था। अब वह काले-भूरे या सलेटी रंगों के स्कर्ट-ब्लाउज़ या पैंटों की जगह हमेशा खिले हुए रंग पहने होती। सलवार कमीज़ न हो तो भी कपड़ों का डिज़ाईन भारतीय किस्म का होता। एक बार वह मेरी साड़ी पर ग़ौर करती हुई बोली थी, "आपकी साड़ियाँ बहुत खूबसूरत होती हैं।"

फिर कुछ रूक कर कहा, "मेरी मम्मी कभी साड़ी नहीं पहनतीं... हमेशा पश्चिमी पोशाक पहनती हैं।"

अब अपने सामने बैठी उस महिला को देख, अनन्या का उस वाक्य को कहते समय चेहरे का भाव याद कर मैं सोच रही थी कि यह महिला भी कहीं ज़्यादा गरिमामयी और नयनप्रिय लगती अगर इसके जिस्म के बेढब मोड़-जोड़ इस तरह इसके कसे पैंट-टॉप्स से न झाँक रहे होते तो। लेकिन इस पहनावे में ये खूब चुस्त-दुरूस्त दीख रही है... इसमें कोई शक नहीं। अपनी डॉक्टरी प्रैक्टिस में इसके लिए यही पहनावा सहूलियत का होगा।

भारत से लौटकर अनन्या ने यह भी बतलाया था कि वह वहाँ साल भर कत्थक नृत्य सीखती रही थी और यहाँ अमरीका में भी उसे कत्थक सिखाने वाली गुरु मिल गई है - इसलिए वह बी.ए. की शिक्षा नृत्य के मुख्य विषय के साथ ख़त्म करेगी और इसके लिए उसे विभागाध्यक्ष की विशेष अनुमति भी मिल गई है। साथ ही चूँकि हिंदी भाषा भी अच्छी तरह सीख ली थी इसलिए अब उसने मेरे हिंदी साहित्य के कोर्स में भी दाखिला ले लिया था।

कुछ दिन बाद वह मुझसे बोली थी कि अपनी थीसिस भी वह हिंदी साहित्य या नृत्य के विषय पर ही लिखना चाहती है। क्या मैं उसकी सुपरवाइज़र बनने को राज़ी हो जाऊँगी? और मैंने खुशी से हाँ कर दी थी। थीसिस के विषय पर बात करने के सिलसिले में ही एक दिन उसने मुझे घर पर फ़ोन किया था और मिलने चली आई थी। इसके बाद वह कई बार घर पर किसी न किसी बात के सिलसिले में आ

जाती थी और घंटो अपने भारत के अनुभवों की या घर की बातें करती रहती। कभी–कभी मुझे लगता उसके भीतर हिंदुस्तान की ही एक ज़रूरत बन गई है जिसे वह मेरे हिंदी भाषा और साहित्य या नृत्य द्वारा पूरा करने की कोशिश करती रहती है। क्योंकि बातचीत का विषय हमेशा भारत से ही जुड़ा होता... वह अपनी बुआ, मौसियों और कज़न की बातें करती कि कितना प्यार देते हैं वे सब। कभी अपने नृत्य के गुरू के बारे में बताती। उसकी बातचीत में अक्सर अमरीका के प्रति आलोचना और भारत के प्रति स्नेह झलकता। वह कहने लगती, "पढ़ाई ख़त्म करके मैं भारत जाऊँगी। बड़ी अजीब बात है कि मेरे माँ–बाप को मेरा भारत जाना पसंद नहीं जबकि वे खुद वहीं के हैं।"

मैं यों ही पूछ बैठी थी, "तुम्हें क्या लगता है कि तुम कहाँ की हो?"

"मैं तो अमरीकी ही हूँ इसमें कोई शक नहीं, लेकिन मुझे यह देश पसंद नहीं, यहाँ के लोग पसंद नहीं। यह बात और भी बुरी लगती है कि मेरे माँ–बाप भी इनके जैसे हैं। मेरी बड़ी बहन भी, उसने तो एक गोरे अमरीकी से शादी भी कर ली है। यों उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं, अपनी पसंद की बात है। पर वैसे कह रही हूँ कि मेरे घर वाले अपने–आपको गोरों जैसा समझते हैं, उन्हीं की तरह व्यवहार करते हैं। पहले मैं भी उनकी ही तरह थी पर अब समझ आने पर यह बात बड़ी अजीब–सी लगती है कि हम जो नहीं हैं वो बनने की कोशिश करें... किसी और की नकल करें जबकि हमारा अपना कल्चर इतना अमीर है।"

कभी मैं उससे पूछ लेती कि भारत उसे क्यों इतना पसंद है तो उसके पास कोई बहुत साफ़ जवाब नहीं होता था सिवा कुछ चलती–सी बात के कि वहाँ के लोग ज़्यादा प्यारवाले, मिलनसार और भले हैं, यहाँ की तरह चालाक या निष्ठुर नहीं। मुझे लगता कि वह और भी शायद बहुत कुछ महसूस करती है और कहना चाहती है पर ठीक शब्द नहीं खोज पाती क्योंकि उसका वाक्य कुछ इस तरह ख़त्म होता कि बहुत कारण हैं... बहुत ज़्यादा कि वह सब गिना नहीं सकती। कभी इन कारणों में मौसम और रंग शामिल हो जाते, कभी हवा और माहौल तो कभी नृत्य और संगीत और उनसे जुड़ी भारत की सांस्कृतिक संपन्नता।

कभी–कभी मुझे लगता कि उसे भारत से एक तरह का रुमानी जुड़ाव ही है। सच में जब वहाँ रहने लगेगी तो ऐसे बात नहीं करेगी। अभी सब कुछ ऊपर–ऊपर से ही देखा है इसने। पर ऐसा कुछ कहकर अभी से उसका मन तोड़ने की हिम्मत कभी नहीं की मैंने। यों भी रुमानी रिश्तों के बनने या टूटने में कार्य–कारण की कोई स्पष्ट तरतीब तो रहती नहीं। इसलिए कोई ज़बरदस्ती तोड़ने की कोशिश करे भी तो परिणाम अनर्थ या प्रलय ही हो सकता है। फिर मैं अधिकार के साथ कह भी कैसे सकती हूँ कि यह रिश्ता रोमानी ही है।

एक बार बात–बात में वह ऐसा कुछ कह गई थी कि मुझे लगा था कि शायद भारत के साथ उसके रिश्ते को रुमानी कह कर मैं उसके साथ ज़्यादती कर रही हूँ। शायद वह कुछ और गहरे कहीं महसूस करती है पर वह ऐसा विषय है जिस पर साफ़ बात यहाँ कोई नहीं करता क्योंकि वह एक शर्म नाक घाव की तरह है जिसे हमेशा ढक दिया जाता है। फिर आख़िरकार वह एक संपन्न भारतीय परिवार की है। अमरीका की एक अभिजात यूनिवर्सिटी में पढ़ती है। उसका ऐसा कुछ कहना ढोंग ही लग सकता है कि सब कुछ होते हुए भी शिकायत। पर उसके उन वाक्यों ने मुझसे वह अकथनीय कह ही डाला था। बात वही भारत को लेकर ही थी। कहने लगी, "वहाँ जाकर मैं वहीं की हो जाती हूँ। कोई मुझसे यह नहीं पूछता कि मैं कहाँ से हूँ... मैं किसी को विदेशी नहीं लगती। और यहाँ जहाँ कि मैं पैदा हुई हूँ, जहाँ मेरा घर है, हमेशा से रहती आ रही हूँ, वहाँ हर नया मिलनेवाला सबसे पहले यह पूछता है कि मैं किस देश से हूँ जैसे कि मैं अमरीकी हो ही नहीं सकती। जबकि मैं भी उन्हीं की तरह यहाँ की नागरिक हूँ। यह सवाल चाहे मैंने अमरीकी कपड़े पहने हो या भारतीय, उठाया ही जाता है। दूसरी तरफ़ कोई गोरी लड़की अगर भारतीय पोशाक भी पहन ले तो भी उसे सब अमरीकी ही मानते हैं जैसे कि यह देश सिर्फ़ गोरों का ही हो।" यों मेरे लिए यह समझ पाना मुश्किल था कि यह लड़की चाहती क्या है। एक तरफ़ हिंदुस्तानीपन बनाए रखने की बात करती है दूसरी तरफ़ इसे शिकायत है कि इसे अमरीकी

नहीं माना जाता। क्या यह हिंदुस्तानीपन बनाए रखने की बात भी इसके विद्रोह का ही एक चेहरा है? आख़िर यह चाहती क्या है और जो वह चाहती है क्या उसे पाना मुमकिन है।

एकाध बार उसने मुझसे विभागाध्यक्ष के खिलाफ़ भी कुछ कहना शुरू किया था कि भारत के प्रति उनका रूख कुछ संवेदनशील नहीं। पर मैंने ज़्यादा तूल नहीं दी तो वह ख़ामोश हो गई।

फिर एक दिन वह निश्चित वक्त से कुछ देर बाद घर पर आई...अलमस्त, झूमती-झामती। मैंने कौतुहल दिखाया तो कहने लगी कि वह शॉपिंग करने हारलम गई थी। हारलम काले अमरीकियों का इलाका था जहाँ ज़्यादातर गोरे अमरीकी जाने से घबराते थे।

"आप कभी गई हैं हारलम? बहुत सस्ती चीज़ें मिलती हैं...ये देखिए यह स्वेटर सिर्फ़ दस डालर में मिला और यह टॉप छह में..."

वह थैले में से चीज़ें निकाल कर बड़े उत्साह से दिखलाती चली जा रही थी। फिर पता लगा कि उसने अपार्टमेंट भी हारलम में ले लिया है। एक दिन मुझे चैलेंज-सा करती हुई बोली, "आप तो कभी नहीं आएगी मेरे अपार्टमेंट...हारलम में जो है...वहाँ कोई नहीं आना चाहता। सब डरते हैं। मुझको समझ नहीं आता सब डरते क्यों हैं...ये लोग तो गोरों से ज़्यादा अच्छे हैं।" उसकी बातचीत में गोरों का ही ज़िक्र दूसरी जाति के रूप में होता, कालों का नहीं। इन दिनों वह बहुत उल्लास और उमंग से भरी दीखती। एक दिन किसी रौ में आकर बोली, "आपको एक खुशखबरी दूँ?"

"क्या बात है? आजकल खूब खुश दीखती हो?"

"हाँ बहुत खुश हूँ क्योंकि मुझे मेरा मनपसंद ब्वायफ्रेंड मिल गया है।"

"कंग्रेचुलेशन्स।"

वह जैसे कुछ और कहने को बेचैन थी पर मेरे सवाल के इंतज़ार में थी।

"आपने पूछा नहीं कि कौन..."

"हाँ बताओ।"

"एक काला लड़का है।"

वह कुछ पल मेरे जवाब-टिप्पणी का इंतज़ार करने के बाद बोली।

"आप शॉक्ड नहीं हुईं।...और सब को तो एकदम शॉक लगता है!"

"तुम्हारे माँ-बाप को मालूम है?"

"नहीं...वे तो एकदम गश खाकर गिर जाएँगे...अभी नहीं बताऊँगी।"

पल भर को मुझे लगा कहीं यह सबको चौंकाने के लिए ही तो काले लड़के से दोस्ती नहीं कर रही। यह इसका अपने माँ-बाप के ख़िलाफ़ या अपने देश के गोरों के ख़िलाफ़ प्रच्छन्न द्रोह भी तो हो सकता है। प्रगट में मैंने पूछा, "क्या शादी करने की सोच रही हो?"

"कर भी सकती हूँ पर अभी कुछ पता नहीं, यों कल शाम मैं उसके परिवार से मिली थी। बहुत अच्छे लोग हैं वे, बहुत वार्म और विनीत और बहुत सुसंस्कृत भी...यह लड़का जाज़ संगीत सीख रहा है। उसका पिता एक मशहूर कंपोज़र है, माँ भी गाती है, पूरा परिवार संगीत में है।"

"और तुम भी...तुम भी तो संगीत में हो।"

उसके इंटेंस चेहरे पर पहली बार शर्मीली मुस्कान दिखी।

"वे लोग हिंदुस्तानी संगीत के बारे में भी जानना चाहते हैं...वे मेरी डांस परफार्मेंस में आएँगे। आप भी आएँगी न!"

"कब कर रही हो तुम?"

"अगले शनिवार...आप ज़रूर आइएगा।"

"तुम तो क्लास के लिए भी छोटा सा नृत्य प्रदर्शन देनेवाली थी, उसका क्या हुआ?"

"आप चाहती है कि दूँ?"

"बिलकुल।""तो ज़रूर दूँगी। अगली क्लास में तारीख तय कर लेंगे।"

लेकिन उसके नृत्य प्रदर्शन में मैं नहीं जा सकी थी। क्लास में से और कोई भी नहीं जा सका था। न ही अगली क्लास में वह क्लास के प्रदर्शन की तारीख नियत करने के लिए वहाँ मौजूद थी। यहाँ तक कि उसके कई दिन बाद तक मैंने उसे देखा भी नहीं...वह क्लास में भी नहीं आई। मुझे फिक्र होने लगी कि इसने शायद थीसिस का काम तो शुरु ही नहीं किया होगा, कहीं ज़्यादा देर न हो जाए।

इसके बाद जब वह क्लास में आई तो मेरे थीसिस का सवाल उठाने पर उसने कहा कि वह इस बारे में पहले ही विभागाध्यक्ष प्रोफ़ेसर फिशर से बात कर चुकी है और अगले दिन उनसे मिलने वाली है। प्रोफ़ेसर फिशर का नाम लेते हुए उसके चेहरे पर अजीब उलझन-सी दीखी थी मुझे, जैसे कि कोई बड़ी मुसीबत में फँसने वाली हो।

मेरे नृत्य प्रदर्शन की तारीख का पूछने पर रुखाई से बोली, "रहने दीजिए। किसी की दिलचस्पी तो है नहीं।"

"ऐसी बात तो नहीं।"

पर उसने चेहरे का रूखा भाव बनाए रखा और बात आगे बढ़ने नहीं दी। फिर मैंने उसके काले ब्वायफ्रेंड का हाल पूछा तो उसके चेहरे पर विद्रूप-सा झलका। धीरे से बोली, "ओह...देयर इज़ नथिंग सीरियस।" लगा कि कुछ है तो मुझे बता नहीं पा रही। कहीं ऐसा तो नहीं कि इसने अपनी सहजता में मन ही मन उस काले परिवार को अपना लिया हो और वे अभी ऐसे अपनापे के लिए तैयार न हो। आख़िर उनकी दुनिया की ज़रूरत तो अनन्या को ही है, या इसे अपने माँ-बाप का भी डर... ।

वह फिर कुछ दिन ग़ायब रही। क्लास से कुछ देर पहले दफ्तर में आई तो परेशान-सी लग रही थी...कुछ बिख़री-बिख़री-सी। कहने लगी, "ये बस अपनी बात बोलती रहती हैं। न तो इनको मेरी बात समझ आती है और मैं मुँह खोलूँ तो झट ये कुछ कह कर चुप करा देती हैं मुझे। प्रोजेक्ट मेरा है या इनका, काम तो मुझे ही करना है...मैं भी चुपचाप सुनती रही, करूँगी तो वही जो मुझे करना है।"

मैं समझ गई थी कि वह विभागाध्यक्ष से मिलकर आई है पर मैंने खुलासा जानने की कोई जिज्ञासा नहीं दिखाई। यों भी किसी प्रोफ़ेसर के ख़िलाफ़ छात्र की बात सुनना मेरी अपनी नैतिकता पर सवाल लगा देता था। पर चूँकि उसकी सुपरवाइज़र मुझी को होना था इससे मैंने उससे विषय के बारे में फ़ैसला लेने की बात कही। मैंने उसे विषय के बारे में एक-दो सुझाव भी दिए जो उसे अच्छे लगे। फिर वह बोली कि कल परसों तक फ़ैसला लेकर वह काम शुरू कर देगी।

इस दौरान मेरी विभागाध्यक्ष से भी बात हुई और वे बताने लगीं कि अनन्या काफ़ी जटिल लड़की है सो उससे काम करवाने में मुझे दिक्कत तो होगी, अपने परिवार से भी उसकी तकरार चलती रहती है। पर मैंने आश्वासन दिया कि मुझे अनन्या के साथ कोई मुश्किल नहीं, वह पहले भी मेरे कोर्स ले चुकी है और अच्छा काम करती रही है।

अनन्या इस बार जब क्लास में आई तो बताने लगी कि विषय का निर्णय उसने ले लिया है पर वह मेरे सुझाए विषय को नहीं लेना चाहती और अपनी मर्ज़ी से काम करना चाहती है। मुझे उसकी यह बात अजीब-सी लगी पर कुछ कहना भी ठीक नहीं लगा। वह परेशान-सी भी थी। मुझसे पूछने लगी कि विभागाध्यक्ष हिंदुस्तान के खिलाफ़ लगते हैं तो मैंने कह दिया कि नहीं ऐसी कोई बात नहीं। उसे मेरी असहमति अच्छी नहीं लगी। क्लास के बाद मुझसे बोली, "इस क्लास में मैं कुछ सीखती नहीं, क्या आपके साथ इंडिविजुअल स्टड़ीज़ कर सकती हूँ।" आधा सेमिस्टर बीतने को था और यों भी कोर्स कुछ आसान नहीं था। मुझे लगा वह बेबात ही ऐसा कर रही है क्योंकि इस क्लास में कम से कम आधे छात्र उसके स्तर के थे। मैंने कहा, "बात सिर्फ़ पढ़ने की ही नहीं, दूसरों के साथ विचारों के आदान-प्रदान की भी है। क्लास में रहोगी तो यह सब सहज होगा। यों इस सेमिस्टर मेरे पास अलग से वक्त निकालना भी मुमकिन नहीं होगा।" फिर मैंने ग़ौर किया तो पाया कि क्लास में वह किसी से ज़्यादा बात नहीं करती थी। दूसरे छात्र आपस में काफ़ी मैत्रीभाव रखते थे, पर यह उनसे अलग-थलग ही रहती।

एक दिन क्लास में औरतों के विषय पर बात होने लगी। ज़्यादातर विद्यार्थी भारत में औरतों के हालात पर शोक प्रगट कर रहे थे। अनन्या को यह सब अच्छा नहीं लग रहा था। वह बोल पड़ी, "ऐसा क्यों है कि हम जब भी भारत के बारे में बात करते हैं तो उसकी बुराई ही करते हैं जबकि भारत में तो औरतों की समस्या है ही नहीं।"

उसका यह कहना सभी को चौंका गया। सवालों की बौछार होने लगी कि ऐसा कैसे कह सकते हैं। अनन्या कहती गई, "भारत में औरतें आज़ाद हैं, वे जो चाहे करती हैं... मेरी सारी बुआ या मौसियाँ डॉक्टर-इंजिनीयर या प्रोफ़ेसर हैं। कोई उन्हें मन का काम करने से रोकता नहीं, सब औरतों की इज़्ज़त करते हैं। उनके साथ विनम्रता से पेश आते हैं, उनकी भावनाओं की क़दर करते हैं, उनकी पूजा करते हैं। औरतों की समस्या सिर्फ़ इस देश में है, यहाँ औरतों की कोई इज़्ज़त नहीं। उन्हें कमअक्ल, नीचा और ग़ैरज़रूरी समझा जाता है, वे यहाँ सिर्फ़ सेक्स का ऑब्जेक्ट मानी जाती हैं, इससे अलग उनकी कोई जगह नहीं।"

क्लास के दूसरे अमरीकी छात्र उसकी बात से भड़क गए। एक छात्रा बोली, "तुम बात क्या करती हो! भारत में तो औरतें न अपनी मर्ज़ी से शादी कर सकती है न कहीं आ जा सकती हैं। पहनने ओढ़ने की इतनी छोटी-छोटी बातों पर जहाँ पहरे लगे हैं वहाँ तुम औरत को आज़ाद कहती हो!" फिर सबके थैलों में से हिंदुस्तानी औरतों से जुड़ी एक-एक करके अनेकों समस्यायें निकाल कर मेज़ पर धरी गई, सती-प्रथा, बलात्कार, पति द्वारा प्रताड़ना, दहेज-हत्याएँ, विधवा-विडंबना।

एक दूसरी छात्रा बोली, "भारत में तो लड़की के कुमारी होने को इतनी अहमियत दी जाती है कि उसके बिना शादी तक होना मुश्किल है, जबकि आदमी खुद जिस किसी से जो कुछ भी करे।"

अनन्या बोली, "नहीं अब ऐसा नहीं है... मुझसे बहुत से लड़के शादी करना चाहते थे पर मैं तो कुमारी नहीं।"

"पर क्या तुमने बता दिया था कि तुम कुमारी नहीं हो, ज़रा बताकर तो देखती।"

"खैर! ऐसा कोई सवाल तो उठा ही नहीं वर्ना बता देती और मुझे नहीं लगता कि उससे कुछ फ़र्क पड़ता।"

वह कुछ ढीली पड़ी। फिर भी अपनी बात पर अड़ी रही।

"मैं यह नहीं कहती कि भारत में कोई समस्या है ही नहीं पर ज़्यादा समस्याएँ अमरीका में हैं। यहाँ कहीं ज़्यादा बलात्कार होता है, कहीं ज़्यादा घरेलू हिंसा की शिकार औरतें होती हैं। पर जब अमरीका के बारे में हम बात करते हैं तो यहाँ की तरक्की, उच्च शिक्षा और अमीरत की बात करते हैं और जब भारत की बात हो तो हमेशा कोई न कोई नकारात्मक पक्ष ही उठाया जाता है। क्या मैं पूछ सकती हूँ कि ऐसा क्यों होता है?"

वह बात कहते-कहते बहुत आवेश में आ गई थी कि क्लास में अचानक बड़ी अटपटी ख़ामोशी छा गई। अब मेरा दखल ज़रूरी था।

अनन्या की इस बात से मैं खुद सहमत नहीं थी कि हिंदुस्तान में औरतों की समस्या है ही नहीं। मैंने कहा, "देखो अनन्या आत्मालोचन आत्मविकास की ही एक प्रक्रिया है। इसलिए आलोचना को नकारात्मक मान उससे दूर भागना कोई अकल की बात नहीं। दूसरे यह कहना कि भारत में औरतें आज़ाद हैं और मनमर्ज़ी से जो चाहे करती हैं तो वह भी ग़लत है। अभी तुमने भारत को देखा ही कितना है। एक बार वहाँ रहने लगोगी तो औरतों की असली हालत पता लगेगी। तुम्हारी यही मौसियाँ और बुआएँ तब तुम्हें अंदरूनी सच्चाइयाँ बतलाएँगी।"

मेरी बात एक तरह से उस विवाद में हार-जीत का अंतिम फ़ैसला सुना रही थी। मैंने देखा अनन्या के चेहरे पर अचानक मुर्दनी-सी छाने लगी है। जैसे कि एक ही व्यक्ति जिस पर उसे भरोसा था उसने भी उसका साथ न दिया था और अचानक वह एकदम अकेली पड़ गई थी। वह उठ खड़ी हुई, "मुझे आज जल्दी जाना है, माफ़ कीजिएगा मैं चलूँगी।"

मुझे जैसे कुछ ध्यान हो आया कि वह कह रही थी एक बजे उसे कहीं जाना है पर अभी तो साढ़े बारह ही थे।

"पर तुमने तो एक बजे जाना था न?"

वह कुछ परेशान-सी बोली, "ओह! एक बजे जाना था, तो एक नहीं बजा लेकिन मुझे तो जाना है।"

वह कमरे से बाहर हो गई तो एक लड़की ने कहा, "बड़ी अजीब-सी लड़की है यह! क्या आप इसे जानती हैं?"

यों अनन्या का प्रस्थान अजीब तो सभी को लगा था पर इस वजह से उसका खुद यह विशेषण बन जाना मुझे भाया नहीं था।

"अजीब तो नहीं। कुछ अपने ही ढंग से सोचती है यह लड़की। आज शायद कुछ डिस्टर्ब-सी थी ...क्या जाने क्या कुछ होता रहता है तुम जवान लोगों की दुनिया में।"

और मेरा आख़िरी वाक्य जिस अंदाज़ से कहा गया था, सब मंद-मंद मुस्कुरा पड़े। पर कहने के बाद मैं खुद ही कुछ उदास हो आई थी। मन में कुछ कचोटता सा रहा जबकि वज़ह बहुत साफ़ नहीं थी।

अनन्या अगली क्लास में फिर नदारद थी। उसके बाद वाली क्लास में वह कुछ देर से आई थी। पर जो हाल उसने अपना कर रखा था अगर सड़क पर मिल जाती तो मैं पहचान भी न पाती। बाल एकदम बिख़रे जैसे कि दिनों से कंघी न फेरी गई हों। चेहरा मैला और बुसा-बुसा सा जैसे कि चार दिन से धोया न हो। और सबसे ज़्यादा हैरानी की बात तो यह थी कि उसने सर से पैर तक काले कपड़े चढ़ाए हुए थे...काली स्कर्ट, काला ब्लाउज़ और काले ही स्टाकिंग्ज़ और बूट। जबकि हिंदुस्तान से लौटने के बाद से उसे खिले रंग पहने ही देखा था। उसने एक बार खुद मुझसे यह कहा था कि सारी हिंदुस्तानी लड़कियाँ जब खूबसूरत, आकर्षक और स्मार्ट लगना चाहती हैं तो काला लिबास पहनती हैं। उन पर काला रंग फबता भी है और एक अमरीकी ढंग का अभिजात सौंदर्य आ जाता है। इसलिए अगर किसी पार्टी में जाइए तो 90 प्रतिशत अमरीकी-हिंदुस्तानी लड़कियाँ काले रंग की ही अलग-अलग किस्म की पोशाकें पहने होंगी। पर वह उस भेड़चाल में शामिल नहीं होना चाहती थी। और भारत जाने के बाद उसे विकल्प मिल भी गया था। अब उसके पास बेशुमार खिले रंगों के पहनावे थे। दूसरी हैरानी की बात यह थी कि वह कोकाकोला की बोतल मुँह में लगा चुस्कियाँ ले रही थी जबकि मुझे याद था कि मेरे घर पर इसने कोक पीने से इंकार कर दिया था और कहती थी कि वह सिर्फ़ चाय या जूस ही पीती है...कोक या दूसरे सोडेवाले अमरीकी पेय नहीं पीती।

वह सबसे पीछे चुपचाप बैठ गई थी। मैंने अपने-आप से कहा कि क्लास ख़त्म होने के बाद ज़रूर इससे बात करूँगी। इसका यह व्यवहार कुछ सहज नहीं लगता।

क्लास ख़त्म होने में अभी आधा घंटा बचा था कि वह झटके से उठी और सीधे दरवाज़े की राह ली। इससे पहले कि मैं कुछ कहती वह हवा के तेज़ झोंके की तरह मेरी कक्षा की हद के बाहर हो चुकी थी। मैंने सोचा इसका मूड कुछ ऑफ लगता है आज। शायद क्लास में उतनी सहज नहीं। घर से खुद ही मुझे फ़ोन करेगी नहीं तो चलो अगली क्लास में बात करूँगी। छात्र जब तक खुद न मदद माँगे, उनके व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप यों भी उचित नहीं। ऐसा तो मैं कभी नहीं सोच सकती थी कि वही क्लास उसके लिए मेरी आख़िरी क्लास थी। सोच पाती तो चाहे उसी दिन उसे रोक लिया होता।

उसके बाद तो बस फ़ोन पर फ़ोन! बस आवाज़ों का ही एक लंबा सिलसिला।

अनन्या ने ही मेरी आंसरिंग मशीन पर संदेश छोड़ा हुआ था, "प्लीज़ प्रोफ़ेसर वर्मा! इस क्लास में मैं सच में कुछ नहीं सीखती। क्या मैं आपसे अलग से नहीं मिल सकती? भारत जाकर मैंने बहुत कुछ सीख लिया है, इन सब क्लास के लोगों को कुछ नहीं पता। ये लोग कुछ नहीं समझते, न समझना चाहते हैं। सब एक ही तरह से बात करते हैं, बस एक एटीट्यूड-सा बना है भारत के बारे में। मैं आपको दुबारा फ़ोन करूँगी, मुझे इस बारे में आपसे बात ज़रूर करनी है।"

फिर एक फ़ोन था विभागाध्यक्ष का। फ़ोन उठाते ही बरसे थे स्वर। "तुम्हें पता है कल क्या किया इसने। एकदम नाइटगाऊन में नंगे पैर चली आई मेरे ऑफ़िस... ऊँचा-ऊँचा चिल्लाने लगी। मैंने कुछ कहा तो मुझ पर हमला करने लगी... हाँ मेरे शरीर पर हमला... मैंने तुम्हें कहा था न शी इज़ स्किटज़ोफरैनिक, शी इज़ सिक।"

"किसकी बात कर रही हैं आप, मैं कुछ समझी नहीं।"

"अरे उसी अनन्या की! और किसकी! ये तो शुक्र करो कि मेरी एक छात्रा मेरे पास बैठी थी। वही बीच में आ गई वर्ना इसने तो मुझे मार डालना था। पता नहीं हो क्या गया है इसे, सोचो तो... ठंड में नंगे पैर, सड़क पर नंगे पैर... कहती है कि हिंदुस्तान में हज़ारों लोग नंगे पाँव चलते हैं, इसमें बड़ी बात क्या है। हर वक्त इंडिया और अमरीका की तुलना करती रहती है। पता नहीं क्या फितूर भर गया है इसके दिमाग़ में! तुम्हारे साथ कुछ उल्टा सीधा व्यवहार नहीं किया इसने?"

"इधर कुछ फ़र्क तो दिख रहा था उसके बर्ताव में। उस दिन क्लास से बिना कुछ बताए उठकर चली गई लेकिन ऐसा कुछ अवांछित व्यवहार तो नहीं।"

"अरे मैं कहती हूँ वो लड़की पागल है, मेरे पीछे पड़ गई कि मैं इंडिया का अपमान करती हूँ। इंडियन्स के लिए मेरे मन में इज़्ज़त नहीं कि सारे अमरीकी इंपीरियलिस्ट और रेसिस्ट है... मैं कहती हूँ पढ़ाई वगैरह उसके बस की नहीं।"

"अभी वह है कहाँ?"

"वहीं जहाँ उसे होना चाहिए था... दफ्तर से निकल कर सुना है उसने टैक्सी ली थी, टैक्सी वाले से बोली कि एयरपोर्ट ले चलो। वह कोई भलामानुस था, उसका पहनावा... नंगे पैर वगैरह देख कर समझ गया कि हालत ठीक नहीं सो सीधे हस्पताल ले गया, अभी वही दाखिल है। उसके माँ-बाप को इत्तला दे दी गई है।"

एक फ़ोन डीन का था, "अब वह कैंपस पर नहीं रह सकती, अगर आप सोचती है कि वह काम कर सकती है तो अपने घर से ही काम करके भेज दे। यहाँ उसका रहना ख़तरे से खाली नहीं। उसने प्रोफ़ेसर फिशर पर हमला किया है... वह किसी के लिए भी ख़तरनाक हो सकती है।"

मैं कहती रहती हूँ... "पर ऐसा तो कुछ मुझे लगा नहीं था, वह ठीक से ही काम कर रही थी और सामान्यतः बड़ी मेधावी और मेहनती है... यह सब..." लेकिन मेरी बात का असर नहीं होता। जिस पर एक बार संदेह का धब्बा लग गया अब जाने क्या कुछ करना होगा संदेह मिटाने को। उल्टे और भी बढ़ी-चढ़ी कहानियाँ... क्या पता कब आक्रामक हो जाए, दौरा पड़ जाए। यों मैं खुद भी दावे के साथ क्या पैरवी कर सकती थी। मैं तो बस हैरान परेशान थी कि कितना कुछ उसके भीतर घट रहा था जिससे मैं इस कदर अनजान रही... बहुत कुछ देखकर भी कितना कुछ नहीं देख पाई!

विभागाध्यक्ष का फिर फ़ोन, "उससे कुछ नहीं होगा... पढ़ाई करना उसके बस की बात नहीं, आई डोंट थिंक यू शुड वेस्ट योअर टाईम।"

मेरी कुछ समझ नहीं पड़ता है। अस्पताल में उसके माँ-बाप के अलावा और कोई नहीं मिल सकता।

अब उसकी माँ बैठी है मेरे सामने! क्षुब्ध, त्रस्त। अंगारे-सी जलती और जला देने को आतुर! "आप काम बता दीजिए न... मैं सारा काम करवा लूँगी, वह ठीक हो जाएगी। इस प्रोफ़ेसर फिशर ने उस पर इतना दबाव डाला कि दो हफ्ते के अंदर-अंदर उसे थीसिस ख़त्म करना ही है। बस काम का प्रेशर बढ़ जाने से इसका ब्रेकडाउन हो गया है, डॉक्टर कहता है कि तीनेक महीने में वह एकदम दुरुस्त हो जाएगी और कॉलेज का काम कर सकेगी। आप बस इतना कर दीजिए कि कल ही सारे मैटीरियल की फ़ोटोकॉपी बना कर दे दीजिए। आगे मैं सँभाल लूँगी।"

उसे यह समझ नहीं आ रहा था कि बेटी की मौजूदा हालत के बारे में मुझे कितना बताए या मुझसे कितना छुपाए... ना ही उसे यह अंदाज़ा था कि मुझे कितना मालूम है या नहीं मालूम। इस वक्त

उसकी एक ही वृत्ति थी कि किसी तरह उसकी बेटी को डिग्री मिल जाए। बेटी को सचमुच में क्या हुआ है इस पर ग़ौर करने से भी ज़्यादा बी. ए. की डिग्री की फ़िक्र थी उसे।

मन उदास-सा हो गया। लगा कि यहाँ से घर जाकर भी क्या दुरुस्त हो पाएगी वह! उसकी माँ कहे जा रही थी, "मैं तो पहले ही नहीं चाहती थी कि इतनी दूर न्यूयार्क में आकर पढ़ाई करे... मेरे पास होती तो अब तक बी. ए. खत्म कर चुकी होती... इसी की ज़िद थी आने की... अब तो यहाँ कभी नहीं भेजूँगी।"

मुझे बार-बार बस एक ही बात ध्यान आती रही कि उस दिन उसने काला लिबास क्यों पहना था और जो पहना था तो अगले ही दिन वह प्रोफ़ेसर फिशर के कमरे में इस तरह से लड़ने क्योंकर पहुँच गई। किस हक से लड़ रही थी... एक अमरीकी के हक से या कि अमरीका में रहने वाले हिंदुस्तानी हक से! या कि कुछ और ही गणित था उसका... तर्क से परे... हम सबकी समझ से परे... डीन... प्रोफ़ेसर फिशर या इस सामने बैठी उसकी माँ की आवाज़ों के परे... एक व्यक्ति क्या कुछ हो सकता है... कितने-कितने तरह के शब्दों में बँधा-तुला, कितनी-कितनी किस्म की आवाज़ों में कैद। यह मेरी समझ की कमी है या उन आवाज़ों की जिनसे मैं आज बुरी तरह से घिर चुकी हूँ, आवाज़ों के ये टुकड़े उन बर्फ़ के ओलों की तरह है जो अर्थ बनने से पहले ही पिघल कर तबाह हो जाते हैं और मैं सुनती हूँ सिर्फ़ उस टूटने को ...उस चिथड़ा-चिथड़ा होती हस्ती को जो अपनी ही कोई आवाज़ बुन रही है... बस डर लगता है कि आवाज़ बुने जाने से पहले ही कहीं टूट-बिखर न जाए....

आर्ये ! कुल में दाग न लगा

डॉ. राम देव प्रसाद सिंह

आर्ये !
तू आद्या है,
मेधा है, महाविद्या है
आभा है, विभा है
शबरी है, सुलभा है
आर्ष परम्परा में तू
साक्षात् स्वयं-प्रभा है
युक्ति-मुक्ति दायिनी
समस्त लोक स्वामिनी
सर्व-पापघ्नी अरी !
महिषासुर मर्दिनी, तू
अबला नहीं, प्रबला है
माया नहीं, मंगला है
पूर्ण चन्द्र कला है।

सती भगवती
अनन्त रूपवती
आर्य संस्कृति की
अपूर्व अमरावती, अरी !
तू नारी ही नहीं निष्ठा है
पुरुष की प्रतिष्ठा है
भूति है विभूति है
आकूति देवहूति ज्यों
अवतार की प्रसूति है
तू 'सर्व स्वरूपे सर्वेशे
सर्व शक्ति समन्विते'
स्वरूप का सन्ध्यान कर
म्रियमाण मानवता को
संजीवन दान कर।

तू आर्य कुल की आर्या है
विजया है भार्या है
विश्व का कल्याण कर
स्वकुल पे स्वाभिमान कर
तू भूल कर भी भोगवादी
अपसंस्कृति को अपनाकर
इस अध्यात्म योग भूमि पर
ज भोग-वृत्तियों को न जगा।

जो रामजी को मंजूर

कमल कपूर

'ममा, अम्मा जी के घर के सामने ट्रक ख ा है। लगता है नये लोग आ गये हैं।' शुचि ने स्कूल से आते ही खबर दी तो मन में हूक-सी उठी और आँखें छलक उठीं उन अम्मा जी की याद में में जो मेरी माँ तो नहीं पर माँ से कुछ ज़्यादा ही थीं। मन-पाखी यादों के पंख फैला कर उ चला और अतीत के उस मो पर ठहर गया, जब और जहाँ अम्माजी मुझे मिली थीं।

....यहीं....इसी ब्लॉक में नया घर खरीदा था हमने। यहाँ के इतिहास, भूगोल से एकदम ही अपरिचित थी मैं। मुझे तलाश थी ऐसे किसी दर्जी की जो मेरे पुराने घर के लगभग नये-से पर्दो को काँट-छाँट कर इस घर के दरवाज़े-खि कियों के अनुकूल बना दे। 'जिन खोजाँ, तिन पाइयाँ' की तर्ज़ पर मुझे पता लगा कि इसी ब्लॉक की चौथी लेन के पाँचवें मकान में एक ऐसी कुशल कारीगर रहती हैं जिनके छूने भर से ही कप ों में जान प जाती है। बस मैं जा पहुँची।

सीधे पल्ले की गहरी नीली किनारी वाली सफ़ेद सूती धोती पहने, काले-सफ़ेद रेशमी बालों वाली, साँवली-सी सूरत और नाटे कद की एक वद्धा सिलाई-मशीन पर झुकी ब ी तन्मयता से कुछ सी रही थीं। मेरी आहट पाकर उन्होंने नज़रें उठाईं और जिस नापने-तौलने वाले अंदाज़ से मुझे देखा, मैं सहम गई।

'बोलो।'

'जी, पर्दे सिलवाने हैं।'

'लाओ, नाप लाई हो?'

'जी नहीं, आपको....घर आना प ेगा।' मैंने डरते-झिझकते हुए कहा।

'मैं किसी के घर-वर नहीं जाती। जो काम है यहीं लाओ।' दो-टूक रूखा-सा जवाब देकर वह फिर अपने काम में जुट गईं।

'जी अच्छा', और 'नमस्ते' कहकर मैं जाने को मु ी तो 'ऐ छोकरी....इधर आ' उनकी पुकार पर मैं लौट आई।

'बता, कहाँ रहती है?'

मैंने बताया तो वह तत्काल उठ ख ी हुईं, 'चलो।' मुझे उनका व्यवहार ब ा अटपटा लगा लेकिन मुझे इससे क्या? मुझे तो अपना काम करवाना है और पैसे देने हैं, यह सोच कर मैं उन्हें अपने घर ले आई। नाप लेकर और पर्दे साथ लेकर वह वापिस जाने लगीं तो शिष्ट और मीठे स्वर में बोलीं, 'तेरी तमीज़ और अदब ने मेरा मन मोह लिया।'

बस, फिर तो सिलसिला ही चल निकला। मैं हर छोटा-ब ा काम लेकर उनके पास पहुँच जाती। मेरी गु िया-सी बेटियाँ उनके द्वारा तैयार किये हुए परिधानों को पहन कर परियों-सी सजने लगीं। मैं जैसे-जैसे उनके नज़दीक आती गई, जानती गई कि जितनी कठोर वह नज़र आती हैं, उतनी वह हैं नहीं। यह तो मीठी छुरियों के वारों से बचने के लिए उन्होंने खुद को कठोर आवरण में लपेट रखा है।

वक्त गुज़रता गया, कब हमारे बीच माँ-बेटी का रिश्ता स्थापित हो गया, मुझे याद नहीं। 'माँ' कितना मीठा शब्द है जिससे मेरा बचपन सदा अनजाना रहा। साँझे दर्द की एक संवेदनात्मक डोर ने हमें कसकर बाँध दिया था। अम्माजी का बचपन भी मेरी तरह बिन माँ के गुज़रा था और अब स्थिति यह थी कि मेरी माँ नहीं थी और अम्मा जी की कोई बेटी नहीं थी। किस्मत ने रिश्तों की क्षतिपूर्ति ही की थी शायद कि वो मेरी 'अम्माजी' बन गईं और मैं उनकी 'बिटिया'। ऐसा कोई पल-क्षण याद नहीं मुझको जब उन्होंने सुपर्णा कह कर पुकारा हो मुझे। वह सदा 'बिटिया' ही कहती थीं मुझे।

एक गाढ़े अपनत्व के क्षण में मैंने अम्माजी से ल ियाते हुए कहा, 'अम्माजी, पिछले जन्म में आप ज़रूर मेरी माँ रही होंगी।'

'अरे, मेरी बावली ल की, इस जन्म में मैं तेरी माँ नहीं हूँ क्या? बिटिया, अगला-पिछला जन्म किसने देखा है? जो है यहीं है। यहीं रिश्ते बनते हैं और यहीं टूटते हैं....कभी मर कर तो कभी जीते जी....'

एक ठण्डी साँस का मतलब तो मैं आज समझ पाई हूँ। तब तो उनकी 'धर्म-पुत्री' होने के नाते जितना मैं उनकी जीवन-पुस्तक को पढ़ पाई, उसका सार-संक्षेप यह है कि अम्माजी के पति सरकारी ऑफिसर थे और अपनी शाही नौकरी के दौरान ही उन्होंने यह शानदार मकान भी बनवा लिया था और दोनो बेटों को पढ़ा-लिखा कर उनके ब्याह भी रचा दिये थे। एक बेटा अलीगढ़ में था और दूसरा कानपुर में। दोनों ही ऊँचे ओहदों पर थे और सुखी जीवन जी रहे थे। उनके पति सारी ज़िम्मेदारियाँ पूरी कर ऑफिस की रिटायरमेंट के साथ-साथ ही ज़िन्दगी से भी रिटायर हो कर चले गये। अम्माजी के पति और अम्माजी का उदार हृदय देखो कि उन्हें भगवान से कोई शिकायत नहीं थी। उनका कहना था, 'रामजी की कृपा से अपनी सारी ज़िम्मेदारियाँ निपटा गये। जितनी ज़िन्दगी जी, बढ़िया ढंग से जी। जीते तो बुढ़ापे की तकलीफें ही पाते न। अच्छा हुआ मेरे हाथों में ही चले गए। मैं पहले जाती तो पीछे से कौन पूछता उन्हें?'

पति प्रेम का निराला और पूर्व अश्रुत उदाहरण था यह तर्क। मेरी नज़रों में वह ऐसी माँ थीं जिन्हें अपने बच्चों से भी कोई शिकायत नहीं रही। वह उनके ख़िलाफ न कुछ कहती थीं, न सुनती थीं।

'रामजी की कृपा से उनके अपने घर-संसार हैं। क्या मैं नहीं जानती बिटिया कि घर-गृहस्थी में सौ खर्च होते हैं? वो बेचारे क्या भेजें मुझे, और भेजें भी क्यों? अकेली जान हूँ मैं और अच्छा-खासा किराया आता है, पेंशन आती है। थो ा-बहुत मैं भी कमा लेती हूँ, फिर क्यों नाहक बोझ डालूँ उन पर?'

बल्कि अम्माजी ही अच्छी-खासी सेविंग कर लेती थीं, बच्चों और उनके बच्चों के लिए।

पति के बाद अम्माजी ने मात्र दो कमरों में अपनी एकाकी गृहस्थी समेट कर शेष घर किराये पर उठा दिया था। कप` सीना उनकी जीविका का साधन नहीं, महज़ 'टाइम-पास' और शौक था। लेकिन धीरे-धीरे उनका यह शौक 'प्रोफैशन' बन गया कि इस हाथ पैसे लेतीं और उस हाथ तैयार कप` देतीं। उधार की तो कोई गुंजाइश ही नहीं।

शुरू से ऐसी नहीं थीं अम्माजी। लिहाज़-लिहाज़ में काफी पैसे गवाँ चुकी थीं वह और आख़िरकार दूध के जले को छाँछ भी फूँक-फूँककर पीना तो वक्त सिखा ही देता है। यह नियम मुझ पर भी लागू होता था। मैं हँस कर कहती, 'अम्माजी आप त्योहारों, फंक्शनों पर तो मुझे इतना कुछ दे जाती हैं लेकिन कप ों में एक पैसे और एक पल का भी लिहाज़ नहीं करतीं। ऐसा क्यों, अम्माजी?'

'प्यार-व्यवहार अपनी जगह और व्यापार अपनी जगह। त्योहारों, पर्वों पर जो नेग-शगुन देती है वह तेरी माँ होती है और यहाँ यह कंजूस टेलर-मास्टर।'

खुद को सगर्व सदा 'टेलर-मास्टर' ही कहती थीं अम्माजी।

अम्माजी धार्मिक तो थीं लेकिन धर्मान्धि नहीं। वह कर्म, श्रम तथा भगवान में अटूट विश्वास रखती थीं, शायद इसीलिए नित्य 'भगवद्गीता' का पाठ करती थीं और इस नियम को उन्होंने मेरे जीवन में भी उतारा। एक गीता पाठ ही क्या, बहुत कुछ सीखा मैंने उनसे। अल्प उम्र में ब्याह हुआ था मेरा और प्रारम्भिक सालों में ही अम्माजी मिल गई थीं मुझे। अस्तु, गृहस्थी को सुचारू रूप से चलाने और संसार में इज़्ज़त और गौरव से रहने के बहुत से गुण मैंने उनसे ही सीखे। यदि मैं कहूँ कि अम्माजी मेरे लिए एक 'सम्पूर्ण शिक्षा संस्था' ही थीं तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

उन दिनों नेत्र-दान की नई-नई लहर उठी थी और मैं 'आई-डोनेशन' के लिए फॉर्म भर रही थी कि अचानक अम्माजी आन पहुँचीं।

'यह क्या है, बिटिया रानी?

'मरने के बाद अपनी आँखें दान करने की वसीयत या वादा है यह अम्माजी।'

'ले, मरें मेरी बिटिया के दुश्मन।'

'अम्माजी, आपकी बिटिया हो या उसके दुश्मन, मरना तो एक दिन सबको है न? तो क्यों न मरने के बाद भी हमारी आँखें यह खूबसूरत दुनिया देखती रहें। जल कर तो सब ख़ाक ही हो जाता है न अम्माजी। तो क्यों न मर कर किसी के काम आयें हम?'

मैंने विस्तार से उन्हें सब समझाया तो वह अच्छी-खासी 'इंप्रेस' हो गईं, 'ऐ सच्ची, मेरी बिट्टो, यह तो ब ा अच्छा तरीका है। मेरा भी फॉर्म भर दे। मेरी तो मरी आँखें भी ब ी तेज हैं।' अम्माजी पुलक कर उत्साहित स्वर में बोलीं।

सब कुछ हो गया और हमारे 'डोनेशन कार्ड' भी बन कर आए। अम्माजी का उत्साह तो निराला था, 'बिटिया, इस दुनिया में आकर मैंने किया ही क्या है? न दान न पुण्य। जो किया अपने या अपनों के स्वार्थ के लिए ही तो किया। अब आँखें देकर कम से कम एक पुण्य तो मेरे खाते में जमा हो ही जायेगा।'

तब से सैक ों बार अम्माजी ने इस बात को दोहराया, 'वैसे तो मैंने बच्चों को भी बता रखा है पर उन्हें याद कराना तेरी ज़िम्मेदारी है।'

लगभग सवा साल बाद, एक लम्बे 'साउथ ट्रिप' पर जाने का प्रोग्राम बना हमारा। रवानगी के दिन अम्माजी आईं। मिलने और हिदायतों की लम्बी-चौ ी लिस्ट भी थमा गईं - 'बच्चों को आँखों से ओझल मत होने देना, स्टेशनों पर मत उतरने देना, किसी अजनबी के हाथ से लेकर कुछ मत खाना। चूरन, नींबू, नमक, काली मिर्च और कुछ दवाइयाँ साथ रख लेना और जल्दी लौट आना', आदि, आदि।

सत्रह दिनों की मौज-मस्ती के बाद घर लौटे तो एक ख़बर जैसे हमारे इन्तज़ार में ही बैठी थी। वह ख़बर थी या धमाका? अम्माजी नहीं रहीं, यही नहीं इनकी तमाम अन्तिम क्रियाएँ तथा विधियाँ तक सम्पन्न हो चुकी थीं। मुझे लगा आज दूसरी बार मेरी माँ मरी है और मेरा मायका ख़त्म हो गया है। शायद इसे ही कहते हैं 'गाज गिरना'। दरकते कलेजे और बहते आँसुओं ने पूछा मानों - 'कब? कैसे?'

'क्या बताऊँ सुपर्णा? तुम्हारे जाने के दो दिन बाद ही . . . ऐसी मौत तो साधु-संतों को भी नसीब नहीं होती सुपर्णा, रात सोईं तो सुबह उठी ही नहीं।' मेरी दोस्त स्वाति ने बताया।

'हाय ! अम्माजी, मेरा इन्तज़ार तो करतीं न आप। ओ रामजी, यहाँ मेरी अम्माजी मर गईं और मैं वहाँ मस्ती से घूमती रही। हे भगवान ! मैं गई ही क्यों?'

आँखें रो रही थीं, मन त प रहा था, वाणी विलाप कर रही थी कि अचानक ख़याल आया, 'उनकी आँखें दान की गईं या नहीं स्वाति?'

'कहाँ? बात उठी तो थी पर दब गई। फैसला तो उनके बच्चों को ही करना था न और जब तक वो पहुँचे बहुत देर हो चुकी थी।' स्वाति ने कहा।

मन में अथाह गम था अम्माजी को खोने का, बेपनाह दर्द था उनके अंतिम दर्शन न कर पाने का और गहरा अपराध बोध था उनकी छोटी-सी हार्दिक इच्छा न पूरी कर पाने का।

अम्माजी के घर पहुँची, उनके बेटों के साथ दुःख बाँटने। शोक के आदान-प्रदान के बाद मैंने बरसती आँखों के साथ कहा, 'भैयाजी, अम्माजी की एक इच्छा न पूरी कर सकी मैं। यह ज़िम्मेदारी मुझ पर डाली थी उन्होंने और मैं अभागी यहाँ थी ही नहीं।'

'न सुपर्णा, रो मत बहन, गम न कर, तेरी अम्माजी की आत्मा दुःख पायेगी। वह बहुत मानती थीं तुझे। उनके रामजी की यह मर्जी रही होगी कि उनकी भली-सी आँखें इस कपटी दुनिया को और ज़्यादा न देखें। पूरी तरह मुक्त हो गईं अम्माजी।' ब े भैयाजी बोले।

तभी छोटे भैयाजी ने कहा, 'जीजी, गलती न आपकी है न हमारी, गलत तो बेरहम वक्त था, चलो चाहे जो भी हो, भरपाई करेंगे हम। आप 'डोनेशन फॉर्म' मँगवाइये, हम दोनो भाई आँखें 'डोनेट' करेंगे और हो सकता है आपकी भाभियाँ भी शायद हमें देख कर तैयार हो जायें और वक्त हर बार तो दगा करेगा नहीं।'

उनकी उदारता देख कर मन ने कहा, 'आख़िर हैं जो मेरी अम्माजी के बेटे ही न।'

अम्माजी की पहली बरसी के बाद उनके बेटों ने आकर मकान बेच दिया . . . सही किया, उन्हें तो यहाँ रहना नहीं था और फिर अम्माजी ने भी कभी किसी शर्त या बंधन में नहीं बाँधा था बच्चों को कि उनके बाद 'यह' किया जाये या 'यह' न किया जाये। वह तो सदा यही कहती थीं 'जो रामजी को मंज़ूर, वही मुझे मंज़ूर।'

अतीत की यात्रा कर मन-पाखी लौट आया था।

उसके थके पंखों को सहलाते हुए मुझे अम्माजी के वह शब्द याद आये जो कभी उन्होंने अपने पति के लिए कहे थे, 'और जीते तो बुढ़ापे की तकलीफें ही झेलते। भला हुआ चले गये।'

अचानक मेरी ज़ुबान से शब्द फिसले, 'जो रामजी को मंज़ूर वही मुझे मंज़ूर।' न जाने क्यों ठण्डा-मीठा, सुखद-सा एहसास हुआ मुझे कि मेरी अम्माजी कहीं गई नहीं हैं, यहीं हैं मेरे आस-पास

ही तभी तो मेरे दिल-ज़ुबान-प्राण भी वही भाषा बोल रहे हैं जो कभी मेरी अम्माजी बोलती थीं, 'जो रामजी को मंज़ूर....!'

माँ

मीनाक्षी जिजीविषा

ईश्वर, तुम ईश्वर हो,
शक्तिमान, वर्द्धमान्, दाता, भाग्य-विधाता।
ला सकते हो तुम
किसी की आँख में आँसू,
या हँसा सकते हो रोते हुए को
अपनी कृपा-दृष्टि से।
तुम सृजनहार, तुम पालनहार,
पत्ता भी नहीं हिलता तुम्हारी इच्छा के बिना
इस जगत् में;
किन्तु यहाँ मेरी दुनिया में,
तुम्हारी रची इसी पृथ्वी पर ही,
तुम्हारे सिवा कोई और भी है ऐसा,
जो है करुणामय, ममतामय, दयामय,
सहनशील, शक्तिमान् रचयिता,
जो वक्त प ने पर मेरे लिए,
भि सकती है तुमसे भी,
वह सर्वशक्तिमान् है,
मेरी माँ।

शरणागत् दीनार्त....

चंद्रकांता

ऐसा भी होगा, यह तो किसी ने भी न सोचा था ! हो सकता है, आजकल कुछ भी जानने के बावजूद होगा, नहीं सोचा !

टाट-बोरियों से शर्म ढके, नंगे चौखटों-दरवाज़ों वाली अधबनी सराय में रेव ों से ठूसमठूस भरे परिवारों ने भी नहीं सोचा, जो मुट्ठी-भर साँस बरकरार रखने की ज़िद में तमाम ज़िल्लतों और दहशतों की हदें लाँघ चुके थे, और कुछ भी हो सकने की आशंकाओं में जी रहे थे।

लसपंडित की बात तो पूछिए ही मत ! दिमाग़ के कलपुर्जे अपनी जगह से सरक गये हों तो आदमी क्या ख़ाक सोचेगा? कहेंगे ज़मीन तो समझेगा आसमान ! 'लोल पोरस कोंश खोर।' लोगों का कहना शायद ठीक है, लेकिन क्या यों ही सरक गया दिमाग़ लसपंडित का?

ज़िल्लतों जैसी ज़िल्लतें थीं वे? मंदिर की चौखट पर प्रार्थना में झुका सिर उठाने की नौबत दिए बिना, जब मुँह-नाक पर काला रूमाल बाँधे दो जवान ल कों ने लसपंडित को घसीटकर पटखनी दी, तो धूल सने ज़ख़्मों को नज़रअंदाज़ कर उसने कीच में लिथ` साफे की ओर लपकते उन आधे ढके चेहरों को पहचानने की कोशिश की।

'अरे...अरे...तु ऽ म? शिव, शिव ! पहचान कौंधते ही लसपंडित की ज़बान मरो खा गयी। 'सु...बहान जू के बेटे...हया क्यों हो छिव करान, अरे, क्या कर रहे हो? क्यों..क्यों कर रहे हो?'

सुबहान जू तो यार है लसपंडित का। दीन-मज़हब जुदा होने की बात अपनेपन में कभी आ` नहीं आयी। ये उसी का बेटा....? और यह शब्बू....? फाता ग्वालन का ही शब्बू तो है, नहीं, नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है?

उसी दिन पहली बार लसपंडित की ज्ञानभंडार खोप ी के कलपुर्जे ढीले प गये। यह कैसे हो गया? का उत्तर ढूँढते। बाद में जया के साथ हुई वारदात ने तो रही-सही कसर भी पूरी कर दी।

यह लसपंडित लसबोय, लसकाक, लसगोर आदि संबोधनों से जाना जाने वाला बंदा कौन है? अब आप भी जान ही लीजिये। बल्कि इसे जानना ज़रूरी भी है। क्यों? वह आगे जान जायेंगे।

लसपंडित वल्द माधो पंडित, घर गाँव मटन, जहाँ मार्तण्ड का विख्यात सूर्य मंदिर है, जिसे ललितादित्य मुक्तापीठ ने ६९९ ईस्वी में बनाना शुरू किया था। पूरा तो काफी बाद में हुआ। किसी वक्त जन्नते-बेनज़ीर रही, वादिए काश्मीर में, श्रीनगर से यही कोई चालीसेक मील की दूरी पर मार्तण्ड के मंदिरों के खण्डहर अतीत हुए वैभव की साक्षी में सीना ताने ख` हैं, जिनके हैरतअंगेज़ शिल्प-सौष्ठव को देखकर बेसाख़्ता मुँह से निकल प ता है : आहा ! खण्डहरों में भी इतना वैभव?

बस, यहीं पर मटन गाँव है, जहाँ साफ़ शफ्फाक ठण्डे पानी का चश्मा है, आबे हयात जैसा! जिसका ज़िक्र अबुल फ़जन ने 'आईने अकबरी' में भी किया है। मटन में ब्राह्मण समाज पितरों के श्राद्ध करना पुण्य का काम समझता है, मान कर कि इस पावन स्थली में श्राद्ध करने से तर जायेंगे पूर्वज। यहीं पर लसपंडित पितरों के श्राद्ध से लेकर, छोटी-ब ी पूजा, हवन, मुण्डन, जनेऊ, ब्याह-शादी इत्यादि अनुष्ठान श्रद्धा से, विधिपूर्वक संपन्न कराता है। मज़ाल है, मटन आकर कोई लसपंडित को न ढूँढे। पुश्तैनी धंधा है पर विरासत में मिली पुरोहिती को वेदशास्त्रों का पारायण कर उसने पंडित कहलाने का अधिकार आप ही अर्जित किया है। नहीं तो 'लसगोर' कह कर आम पंडों-पुरोहितों की कतार में ख ा रहता, धनी-गुणी यजमान थो` आगे-पीछे घूमते?

मुट्ठी-भर पसलियों का लहीम-शहीम लसपंडित, जिसका मस्तक हर गुणी के आगे नमस्कार की मुद्रा में झुकता है। संतोषी भले हो, वैरागी साधु नहीं है। बल्कि एक अच्छे-ख़ासे परिवार का स्वामी है। परिवार में ब ा बेटा गाशा है जो एम.एस.सी. करके स्थानीय स्कूल में साइंस पढ़ाता है और पिता के धंधे को 'दरिद्रों का पेशा' समझ कर मन ही मन इस धंधे से नफ़रत करता है। एक सुघढ़-सलोनी बिटिया जया...कीच में कमल कहते हैं, ये गाँव वाले, जिसके जन्म पर लसपंडित को लगा कि स्वयं देवी राज्ञा उसके घर आयी है और माँ शोभावती को चिंता जैसी हुई कि इस खिलते गुलाब की गंध को आगे, मँडराते भौरों से बचाना होगा और शोभावती की पेट पोंछनी संतान

बबली, जो अभी कच्चे घ`-सी नाज़ुक लचीली है, सो उसके बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

लसपंडित की धर्मपत्नी शोभावती तो हैं ही पक्की गृहस्थिन, आम गृहणियों-सी। यानी सुबह से शाम तक छाज-छलनी, झा -वा का संग-साथ, गाय-गोरू गाँव के ओखे काम, इधर दौ उधर लपक, कभी सीख-सिखौवल के बहाने बच्चों को डाँट-धौल और घर-परिवार की अन्नपूर्णा ! अपने बग़ीचे का वोस्तहाख और शलज़म-नदरू चाव से पकाती बाल-बच्चों के चेहरे पढ़ती है, यानी स्वाद बना है? पति के प्रति भी वह पूरे दायित्व निभाती हर सही-ग़लत के लिए पंडित को यदा-कदा आ` हाथों भी लेती है।

घर गृहस्थ के खट्टे-मिट्ठे स्वाद, खटराग ! कुल मिला कर अच्छे ही दिन गुज़र रहे थे लसपंडित के।

बाहर लोग लसपंडित को यों ही पंडित जी कह कर नहीं बुलाते। वे ह ब ी में ॐ योम योम करते आधे सही आधे ग़लत श्लोक पढ़ते, टालू श्रद्धाहीन पूजा नहीं करते। बल्कि नियम-धर्म, रीति-नीतियों का बाज़ाप्ता पालन करके शास्त्र-सम्मत पूजा का विधान निभाते हैं। तब कहीं दान-दक्षिणा ग्रहण करते हैं। इसके अलावा गुड्डी की जन्मपत्री बनानी हो, राधेनाथ की गृहदशा बाँचनी हो या साढ़ेसती, ढेईया नवग्रह-शांति के लिए मंत्र आदि पढ़ने-सिखाने हों, सो लसपंडित की ही ढूँढाई होती है। सर्वकामनासिद्ध मंत्र, भय नाश का मंत्र. . . .कौनसा मंत्र नहीं जानते लसपंडित? विपत्ति का मंत्र तो उनकी ज़बान की नोंक पर ही रहता है। गला भी ऐसा सुरीला कि शरणागत दीनार्त - परित्राण परायणे, सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणे नमोस्तुते।। के स्वर तरन्नुम में उठाएँ, तो आदमी तो आदमी, नीले ताल में लहरियाँ थिरक उठें। मछलियाँ सतह पर आकर छप-छप तैरनें लगें और कीकर की डालियों में पींगें लेती हवा भी मंत्र दुहराने लगे।

लेकिन नयी-नयी मसें भीगे छोकरों की क्या कहें लसपंडित? वक्त को ही दोष देते हैं। कितना कुछ बदल गया लसपंडित के देखते। स ऽब उलटफेर. . . .। मटन जैसे गाँव में टी.वी., वी. सी.आर. क्या घुस आये कि बच्चे पढ़ाई और ब` सत्संग छो देर रात तक चिपकने लगे टी.वी. के संग। लसपंडित को दुःख है कि बच्चों में अच्छे संस्कार नहीं पनप रहे। ब ों को सलाम या नमस्कार करना दूर, तू-त ाक बोली में बातें होने लगी हैं। चारों पहर ज़बान पर 'इश्क इश्क इश्क' और 'साला मैं तो साहब बन गया. . . .।'

सिखाते थे पहले कभी-कभार बच्चों को लसपंडित, 'अरे महराजे ! यह देर रात तक टी.वी. से आँखें फु वाने से क्या बेहतर नहीं कि स्कूल का पाठ दोहरा लो। यह जो तीन-तीन साल एक ही कक्षा की शोभा बढ़ा रहे हो, ज़रा आगे खिसक कर जिया-लीला को थो ी उम्मीद ही बख़्श दो, दरबदरीदास !'

शिव शंभो ! कैसा कलियुग आ गया। जब देखो तब डिशुम डिशुम. . . .और यह कौनसी भाषा बोलने लगे हो बरखुरदार। हर वाक्य में छः बार साला, शिट और माई फुट। दूँ एक झाप पिछा ी पर कि एक ही धौल में सही भाषा बोलना सीख जाओ?

ल के या तो इस कान सुन उस कान निकाल देते या हँस प ते, 'काका, तुम अपना शिवोऽहम करते रहो। हमें बख़्श दो। क्यों जवानों के मगज़ लगे हो? कसम खाते हैं, जब तुम्हारी उम्र तक पहुँचेंगे, तो जंगल जाकर संन्यास लेंगे. .।' यानी बुढ़ऊ, तुम्हारा ज़माना लद गया। बोर मत करो।

सच मानो तो शिव शंभो ही करते रहे थे, लसपंडित। रोजी-रोटी की ख़ातिर भी और मन की शांति के लिए भी। लेकिन देखते-देखते सचमुच ज़माना पलट गया। गुल्ली-डंडा और बैट-बल्लों से खेलते युवा लोहे के घातक खिलौनों से खेलना सीख गए। वादी की फ़िज़ा ही बदल गयी। गाय-गोरू के बा` की दीवार पर चढ़कर छोटे बच्चे लसपंडित को चिढ़ाने लगे, 'मिलिटेंट आये, मिलिटेंट आये !' लसपंडित ने पहले बंद मुट्ठी दिखा कर बच्चों को धमकाया, 'धत् इस्माल बदखबर !' और वे हँस कर भाग ख` हुए। लेकिन बाद में तो जवान भी उनमें शामिल हो गये और एक दिन लसपंडित के कंधे पर धरी झकाझक सफ़ेद चद्दर में कालिख पुत गयी, मिट्टी-पलीद होनी लिखी थी, सो होकर रही !

'. . . .पूर्व कर्मों का फल. . . .और क्या? इस जन्म में तो किसी का बुरा न सोचा, न किया।'

'पाप-पुण्य और कर्मों की बात मत करो बाबा !' लसपंडित का ल का गाशा, जो पहले निहायत पढ़ाकू, संजीदा और आज्ञाकारी हुआ करता था, आजकल ढोक पर बैठा बंदर-सा बेबात काटने दौ ता है, 'कर्मफल, कर्मफल ! बस? अब यही पाठ रह गया रटने को। ये लाखों जो भुगत रहे

हैं नरक, सभी ने बुरे कर्म किये थे? और वे हमारे भाग्यविधाता जो ऊँची कुर्सियों पर बैठे अपनी गद्दियाँ बचाने के लिए कोई भी पाप करने से बाज नहीं आते, उनके कर्मफल कहाँ गये? हमारी दुर्दशा के ज़िम्मेदार हैं वे....।'

गाशा, उम्र पच्चीस....तेज़-तर्रार, गुस्सैल, आस-पास घटती वारदातों और हालात का भुक्तभोगी, चश्मदीद गवाह ! अकेला ही कड़ुवा नहीं रह गया वह। पूरी पीढ़ी गुस्साई हुई है। बेघर बेज़मीन, बेरोज़गार....और अपने देश में परदेशी होने का विवश आक्रोश ! अचानक ही तो नहीं फट प ा आसमान। एक ही दिन में अपने दुश्मन नहीं लगने लगते। एक ब ी साज़िश के शिकार वे मुहरे बनाये गये। पहले छुटपुट हत्याएँ, बलात्कार, आगजनी की वारदातें हुई कि फिर राह चलते छोकरे आँखों में आँखें डाल तरन्नुम में गाने लगे, 'असि गछि आसुन पाकिस्तान, बअव रोस लय बटन्येव सान', हमें पाकिस्तान चाहिये, पंडितों के बिना पर पंडितानियों के साथ।

गाशा ने उसी दिन पिता को चेताया था, 'बाबा, अब यहाँ रहना ठीक नहीं। अब हमारे साथ कोई भी वारदात हो सकती है।'

लेकिन लसपंडित नहीं माना। उसके सामने ललदेदी, महजूर, आज़ाद, हब्बाख़ातून और मास्टर ज़िंदा कौल की साझी विरासतें थीं। वह उस सोज़ को सुनता रहा था जहाँ न कोई हिन्दू था, न मुसलमान। सभी परमपिता की संतानें ! फिर उसने अशुभ सोचना सीखा ही नहीं था। बल्कि अशुभ सोचने वालों को वह अकसर घने जंगल में भटके उस पथिक की कहानी सुनाता था, जो एक अँधेरी रात घने पे के नीचे भूख से बदहाल सोचने लगा, 'काश ! कोई आकर दो मुट्ठी भात देता कि मेरे थके जिस्म में जान आ जाती। लो ! सोचते ही करिश्मा हो गया। पलक झपकते पकवानों भरी थाली प्रकट हुई। खा-पीकर तृप्त हुआ पथिक, तो सोचा, काश ! एक बिछौना होता तो चैन की नींद सो जाते। देखते-देखते गद्देदार बिस्तर भी हाज़िर हो गया। बिस्तर पर पसरकर पथिक के मन में अचानक डर उगा। सोचा, इतनी घनी काली रात, सुनसान जंगल, ऐसे में यदि कोई जंगली जानवर आकर दबोच ले? बस ! उसी क्षण कहीं से भूखा शेर प्रकट हुआ और पथिक को दबोच गया।'

अब ऐसी कहानियाँ सुनाने वाला लसपंडित, जो मान कर चले कि कोई-कोई क्षण ऐसा भी होता है कि जो माँगोगे, मिलेगा। कोई अदृश्य शक्ति हर सोच और हर इच्छा पर 'तथास्तु' करती है। सो भला लसपंडित क्यों और कैसे अशुभ सोच सकता था? (दिन गिन रहा है....से आगे) वहाँ चिर-निद्रा में लीन उसके बाबा, दादा, माँ और अनेक आत्मीय....(लसपंडित को....)

पर अशुभ घट गया। पूरे समाज के साथ, बाद में पूरी वादी लपेट में आ गयी। कहीं बहन-बेटियों की बेइज़्ज़ती हुई, कहीं दरवाज़ों पर रुक्के चिपके मिले, धमकियाँ दी गईं, कहीं दोस्तो-प ोसियों ने विवश यातनाएँ कीं, चले जाओ कुछ देर मैदानों की तरफ। फ़िज़ा खराब हो गयी है। कोई समझने की कोशिश नहीं करता। हालात ठीक होते लौट आना....।

लेकिन लसपंडित डटा रहा तब तक, जब तक जया के साथ वारदात नहीं हुई। आधी रात दरवाज़े पर दस्तकें हुईं और चार अज़नबी आसमानी आफ़त की तरह भीतर घुस आये। गाशा ने रोकना चाहा, पर वे चार थे हथियारों से लैस। एक ही वार से गाशा चित्त हो गया। लसपंडित ने साफा उनके पैरों में डाला, शोभावती ने पाँव पक े, लेकिन वे सहमी कबूतरी-सी जया की बाँहें मरो कर साथ ले गये। आर्त पुकारें रात के सन्नाटे को चीरती रहीं।

होश आने पर गाशा ने पिता को धान के बोरे-सा पीठ पर लाद कर ट्रक में डाल दिया। दो-चार पोटलियाँ बगल में दाबे वे घर में ताला डाल चल प े। कहाँ, किधर....सोचे बिना और त्रिकूटा नगर की इस अधबनी सराय में डेरा डाल दिया, जहाँ पहले से ही बीसेक परिवार दरी-भर जगहों को रिहाइश मान कर शरण लेने आये थे।

तब से लसपंडित न शुभ सोचता है न अशुभ। सुबह-शाम नियम से छः तार का जनेऊ धोता है और गायत्री मंत्र पढ़ता है, 'ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्।' अपना अभ्यास नहीं छो ता। गाशा उनके मंत्र सुन कर अपना गुस्सा पिता पर उतारता है, 'हालात एक दिन में ख़राब नहीं हुए। आज बुज़ुर्ग लोग शुतुर्मुर्ग बने चोंच-मुँह पंखों में छिपाये बैठे रहे, खाली चिंतन, बुद्धि को सत्कर्मों में लगाने की प्रार्थना ! वक्त रहते चेत जाते तो....!' गाशा बेअदब नहीं रहा, लेकिन वह हालात से समझौता नहीं कर पा रहा। लसपंडित ही क्या समझौता कर पाया है? किस-किस को भूल जाये लसपंडित? घर-द्वार, आँगन-बा ी, मंदिर, पुश्तैनी विरासतें ही नहीं,

वहाँ अखरोट के पे तले उसकी नाल ग ी है। कीकर और वेद वृक्षों के साये में लेटा श्मशान उसकी प्रतीक्षा में बाँहें पसारे दिन गिन रहा है। (ऊपर) लसपंडित को ढूँढते होंगे। अपनी मिट्टी से मुक्ति नहीं किसी की।

जया की घटना से पहले गाशे ने रियाज से बात की थी, 'क्या करूँ? बाबा घर छो कर कहीं भी जाने को तैयार नहीं।' रियाज बचपन का दोस्त है। हर सही-ग़लत का संगी। उसने सिर झुका लिया, 'बाबा को समझाओ, मैं भी सोच रहा हूँ चला जाऊँ कहीं कुछ दिन। हमारी मुश्किलें भी तो कम नहीं, कितने ही गुटों और गिरोहों में बँटे हैं वे लोग। किस-किस से बचेंगे हम?

'लेकिन तुम?....तुम्हें क्या डर?'

'डर है गाशा, तुम क्या जानते नहीं। जो उनके जेहाद में शामिल नहीं होता, उसका क्या हश्र होता है? मैं इन्वॉल्व होना नहीं चाहता।'

गाशा ने उसी दिन गहराते अँधेरे को महसूस किया था। लेकिन बाबा के हठ के सामने उसकी एक नहीं चली। चलती, तो भी क्या होता? लेकिन छुटकारा नहीं है लोगों को हुए को अनहुआ करने की सोच से! ऐसा होता तो, वैसा होता तो....? एक-दूसरे पर दोषारोपण....थकान और बेबसी की हदें...!

लसपंडित और शोभावती ने जया का तर्पण कर दिया। माँ रात-रातभर दिल दहलाते विलाप में बिलखती रही। लसपंडित हथेली से पत्नी का मुँह बंद कर देता। कौन सुखी है यहाँ? दुःख के मापने के यंत्र नहीं होते, वह सिर्फ़ दुःख होता है। गाढ़ा....घना....अभेद्य !

सुनना, देखना, आँख-कान रहते। इससे मुक्ति नहीं। जीवन से ही मुक्ति कहाँ? लसपंडित सिर पर गीला गमछा लपेटे भी -भरी मिनी बस में दुबका बैठा पता नहीं अब कुछ सोचता भी है या यों ही बस के धचक्कों से उछलता-हाँफता मिट्टी का लोंदा बना बैठा रहता है। कौन जाने? आस-पास के लोग उसके तिलकधारी माथे को हिकारत-भरी नज़रों से देखते हैं, ए....ऽऽ पंडित, ज़रा सरक कर बैठो, कित्ती जगह घेर लोगे? हह, जिधर देखो, उधर ये ही लोग....।

लसपंडित सिमट कर घोंघा बन जाता है। पसीने के नमकीन परनाले पर पिघलता हुआ, चुप्प! या शायद बंद आँखों वह अपने गाँव पहुँच गया होता हो, जहाँ बर्फ़ ढकी संगरमाल पर सुबह की नरम लाली गुलाल बिखेर रही है और वन मैनाएँ पुरवैया की छे छा से कुहुक-कुहुक मीठे गीत गाती हैं, टीवी टुट्, टीवी टुट् ! सुबह-सुबह मुँह में दातून दबाये लसपंडित, वीर कीकर की शेहज़ार छाँह से गुज़रता नीले चश्मे की ओर जा रहा है, जहाँ छुलुक-छुलुक तैरती मछलियाँ बेसब्री से उसका इंतज़ार करती हैं। कब आये लसपंडित दाना लेकर और वे सतह पर आ मुँह खोल लपक लें भोजन। उसके बाद नित्यकर्म से निवृत्त हो कर सूर्यवंदना : 'ॐ मित्राय नमः। ॐ वये नमः। ॐ सूययि नमः। ॐ...' और प्रतीक्षा में बैठे यजमान....! लेकिन इधर वाले यह सब क्या जाने? जो जिसे न जाने, वह उसे क्या माने?

बस कंडक्टर आख़िरी सवारी, लसपंडित को झिंझो रहा है, 'उठो पंडित, क्या यहीं प े रहोगे?'

कोई बुला रहा है क्या....भूखी मछलियाँ....? कहाँ हो?....कहाँ हो? कौन है यह? आस-पास लोग इकट्ठा हो गये हैं।

होगा कोई शरणागत ! माइग्रेंट ! जिधर देखो, उधर ये ही लोग तो नज़र आते हैं....!

बेचारे ! कब तक स ते रहेंगे कैंपों में ! चार साल से ऊपर हो गये...! पहले-पहल मुसीबतज़दा जान लोगों ने दया दिखाई। पर कितनी देर? स्कूल, कॉलेज, बाजार, दुकान भर गये और जहाँ देखो वहाँ माइग्रेंट कैंप, माइग्रेंट शॉप, माइग्रेंट स्कूल !

आख़िर कब तक सहे आदमी, आदमी को। सरकार तो कान में तेल डाले बैठी है। बस, राशन बाँट रही है। पेट का गड्ढा भरो और स ो कैंपों में ! क्या पीढ़ी-दर-पीढ़ी यहीं प े रहेंगे? क्या पता...?

'अरे, कहीं मरमुरा तो नहीं गया? चार पसली का बूढ़ा है....।'

मुँह पर पानी के छींटे प ते ही लसपंडित ने आँखें खोलीं, आस-पास आँखें गा कर देखा, 'अरे, वह कहाँ पहुँच गया? उसे तो गाँधी नगर जाना था। मटू साहब के पिता का श्राद्ध है आज।'

यहाँ निर्वासन में भी बिरादरी के कुछ संपन्न लोग पूजा-वूजा के बहाने लसपंडित को बुलाकर दस-बीस रुपये हाथ में थमा देते हैं। कुछ सीधा अलग से। शास्त्र-पुराण जानने वाले अब रहे कहाँ?

लसपंडित एकाध-मील पैदल चल कर बस किराये में से कुछ रुपये बचा लेता है। बचे हुए पैसों में कुछ भाजी-वाजी खरीदकर अभी भी घर और बाहर अपने होने को बचाये रखना चाहता है। सूखे हा का पंजर भर।

गाशा विस्थापित बच्चों के स्कूल में साइंस पढ़ाता है। फिलहाल, सरकारी रिलीफ़ के लिए दफ़्तरी की आवाजाही करता है और सुनता है माइग्रेंट शब्द, जो अब गाली की तरह इस्तेमाल होने लगा है। वह अपने वजूद के बारे में भूलता जा रहा है। वादी का 'हांगुल' ! धीरे-धीरे ख़त्म होना उसकी नियति बनती जा रही है।

लेकिन सराय में रहते लसपंडित के साथी दिन गिनते हैं। दिन....मास....वर्ष। 'नवम्बर, १९८९ में आये थे हम....' दीनानाथ हौज़री वाला एक ही राग अलापता है, 'सामान से ठसाठस भरी दुकान, दिल्ली-पंजाब का लेटेस्ट माल ! चाबी, वली मुहम्मद को सौंप आया। ईमान बचा है उसमें अभी। सोचा था, दो-चार महीनों में हालात ठीक हो जायेंगे....!' हृदय रोग की मरीज़ लीला का विलाप ख़त्म ही नहीं होता - 'मेरा यह....मेरा वह....!' लल्ली के लिए तोशें का शाल बनवाया था अली जू से। पूरे दाज का सामान....कहाँ होगा अब? वे काँसे-पीतल के ब -ब पुश्तैनी कंडाल, देगचियाँ ! अनंतनागी गब्बे, लद्दाख से लाये थे ल्हास के कालीन....इधर नंगी चटाइयों पर बदन में गाँठें प गयी हैं और ये इधर वाले कहते हैं, याचक ! दरिद्दर....।

राधेश्याम, रिटायर्ड मास्टर सुबह से शाम तक अख़बारों में घर ढूँढता है। अभी तो नाख़ूनों में रेत-मिट्टी भरी है। क्या पता, जला ही दिया हो, कितनों के तो जला दिये।

अख़बार कितना ज़रूरी हो गया है सराय वालों के लिए।

आज फलाँ मंत्री दौरे पर गये हैं, हालात का जायज़ा लेने....।

आज दस मरे, छह घायल हुए....डोडा में बम फटा....पुलवामा में सीमा पार से आये, हथियार पक गये....।

चश्मे की डोर बँधी कमानी कान के पीछे जमा कर नित्यानंद उम्मीद की लौ जगाते हैं, 'मंत्री जी कहते हैं, हालात सुधर रहे हैं....! यहाँ देखो इधर....इधर क्या लिखा है....पढ़ो।'

दो ब्रिटिश नागरिकों का अपहरण....

'लो, सुधर गये हालात ! बंद करो, बंद करो अख़बार ! कोई तो उम्मीद बनी रहने दो।' गरम साँसें भाप की तरह उठती हैं और धुआँ बन कर फैल जाती हैं। लेकिन अख़बार बंद करने पर भी हालात हाजिरा पर तपसरा ख़त्म नहीं होता। अब जम्मू में भी वारदातें होने लगी हैं, चौक में दो उग्रवादी असले समेत पक गये....

यह 'हरकत-उल-अंसार' किनका संगठन है? सुना नहीं, यह नाम पहले !

क्यों भई? यह एमनेस्टी इंटरनेशनल और दूसरे मानवाधिकारवादी विदेशी संगठन विस्थापितों के शिविरों में क्यों नहीं आते?

पता नहीं लसपंडित अख़बार के समाचार सुनता है या नहीं, वह अपनी राय तो कभी ज़ाहिर नहीं करता। उधर खुली खि की से त्रिकूट पर्वत की चोटियाँ दिख रही हैं, उसी तरफ़ टकटकी लगाये देख रहा है। रात को पहा ी रास्ते पर जगर-मगर करती रोशनियाँ पलक झपकती तारों की मंदाकिनियाँ नज़र आती हैं। लसपंडित के हाथ नमस्कार की मुद्रा में जु जाते हैं, 'शरणागत दीनार्त परित्राण परायणे....' बुदबुदाता ही रहता है आजकल लसपंडित। आदत का क्या करे कोई? विपत्ति निवारक मंत्र ! अब कौनसी विपत्ति बाकी है लसकाक?

शोभावती, बबली, गाशा तीनों लसपंडित के आजू-बाजू लेटे हैं। शोभा की सा ी पिंडलियों तक सरक आई है। पसीने से भीगा जंफर बदन से चिपक कर अदृश्य-सा हो गया। हॉल खुला है। बहू-बेटियाँ सभी एक-दूसरे से सटी, ज्यों नंगे आसमान के नीचे बेपर्दा ! लसपंडित गाँव में कभी किसी के घर जाता तो बरामदे में आकर खाँस-खँखार ज़रूर लेता। भीतर बहू-बेटियाँ गो घुटने मो कर सिर-माथा ढक कर तो नज़र आयें।

लसपंडित धीमे से शोभा की छातियों पर चद्दर का कोना फैला देता है। सो जाये तो अच्छा। भूल जाये अजाब कुछ देर। कितनी रातें सो नहीं पायी है। सोते-जागते चौंक-चौंक कर चीखती रही, कौन है, मत खोल दरवाज़ा, वे लोग फिर आयेंगे....अरे पापियों ! मत मरो ो कलाई बच्ची की, नील प जायेंगे....।

बबली ने दायीं बाँह बाबा की गोद में डाल दी है। लसपंडित याद करता है, कोई मोह निवारक मंत्र होता है क्या? दस से चौदह साल की हो गयी बबली इसी सराय में। दया-मदद के बहाने चले आते हैं दाता-याचक, दोनों लार टपकाते। शोभा जवान होती बच्ची को गर्भ में छिपा नहीं सकती, उभरती छातियों को चुन्नी से कस कर बाँध देती है।

लसपंडित कुछ नहीं करता। सुनता रहता है, देखता रहता है, चुप, गूँगा। गुस्सा भी नहीं कर पाता। क्या कष्ट निवारक मंत्र भूल गया?

राशन की क्यू में घंटों ख ा, धक्कों-मुक्कों बीच झोले-बैग सँभालता जब बारी आने पर थैली आगे बढ़ाता है, तो राशन बाँटने वालों की ज़ुबान से झरते बदबूदार बोल उसके कानों में गरम सीसा घोल देते हैं, 'ऐ. . . बूढ़े ! तू क्यों आता है राशन लेने। इस भुक्ख भी में दब कर कचूमर निकल जायेगा कभी। अपनी ल की को क्यों नहीं भेजता. . . .?'

'हाँ, हाँ, जवान ल की है तेरी। उसे भेजा कर, जल्दी मिला करेगा राशन और खूब अच्छा भी !'

हें हें, कर पीले दाँत दिखाते 'सेवाकर्मी' लसपंडित को धकिया कर पीछे हटा देते हैं। राशन का गेहूँ कच्चे फर्श पर बिखर जाता है। लसपंडित चुप-चाप दाने समेटने लगता है। भुक्ख ! लसकाक! जो गरम-गरम भात का आधा भाग कुत्ते को खिलाता था. . . .और . . . .ये सरकारी सेवक. . . .किस आतंकवादी से कम हैं? एक आतंक में जया गयी, दूसरा आतंक बबली की ओर लपक रहा है. . . .और सुदर्शन चक्रधारी ! तेरा चक्र कहाँ गया? इतना निहत्था तू क्यों हो गया? निहत्था लसपंडित, निहत्था भगवान? निहत्थे देश-रक्षक ! कोई किसी की पुकार नहीं सुनता।

सिर के पृष्ठभाग में दर्द उठता है। तीखी बर्छी ज्यों आर-पार हो जाये। उन लोगों ने कितनी बेदर्दी से पटक दिया था। शहतूत की छाँह में मिट्टी दलदली थी, नहीं तो दिमाग़ के सभी पुर्जे खुल गये होते। लसपंडित सोचता है तब, क्या शब्बीर की माँ फ़ाता ग्वालन जानती है बेटे की करतूत ! नहीं जानती होगी। उसे विश्वास है। कहती थी, 'क कती ठण्ड में दूध लेने मत आया करो पंडित, गज-गज की बर्फ़ और चिल्लय-कलान, कभी इस तीखी ठण्ड में टें बोल गये तो गुनाह मेरे सिर लगेगा। यह शब्बू क्या तेरा बेटा नहीं, पहुँचा दिया करेगा दूध घर पर. . . .।'

बेटा तो था परंतु. . . .! आगे सोच ग ब ा जाता है। किंतु-परंतु से गुज़रते उलझता जाता है लसपंडित और गूँगा हो जाता है। अपने दस्तार की रक्षा नहीं कर पाया वह। क्या सिर्फ़ मंत्र ही पढ़ता रहा है वह?. . . .कर्महीन मंत्र?

लेकिन इंतज़ार बरकरार है। कुछ भी नहीं भूलता। सालों बाद भी गाँव-घर की खुशबू नाक में बसी है। मानसबल झील के नदरू और वूलर के सिंघा ों का स्वाद जीभों पर मौजूद है। दाल-रोटी तो इंतज़ार का वक्त भरने का ज़रिया भर है। वहाँ जो बर्फ़ के नरम गाले बंद खि कियों पर दस्तकें दे रहे होंगे और उन्हें न पाकर संधों-झरियों से घुसकर खाली बिछौने भिगो देते होंगे. . . .!

सोचते हैं, शरणागत लोग और इंतज़ार करते हैं। अख़बार पढ़ना ज़रूरी है। देश-विदेश के समाचारों में खोज उस छोटी-सी खबर की, जिस पर उनके घर लौटने की उम्मीद निर्भर है। लेकिन समाचार उम्मीद पर पाले का काम करते हैं।

लो नया समाचार, 'काज़ी साहब की हत्या' लाखों लोगों का जुलूस 'पाकिस्तान मुर्दाबाद' के नारे शिव शिव ! लसकाक और क्या कहे?

ख़बरों के बाद 'तपसरा' ! और इतिहास के पृष्ठ पलटने जारी। छः सौ साल पहले का वक्त। क्या सचमुच इतिहास खुद को दोहराता है?

सराय वालों को उम्मीद है। तब भी दोबारा बसे थे हम, अब भी हम जायेंगे। अच्छा है, उम्मीद जिलाये रखती है।

देर रात, अमावस की रात ! सराय की सीढ़ियों पर दबी-दबी पदचाप सुनाई प रही है। तपसरा रुक जाता है, रोम-रोम कान बन जाते हैं, कौ ऽ ऽ न? कैसे बेबात चौंक जाते हैं डरे हुए लोग ! 'कुसु छुव?' जवाब में टाट का पर्दा हिलता है, गोरे से हाथ ने पर्दा सरकाया है।

'लसकाक पंडित इधर रहते हैं? मटन वाले?'

दुबली थकी-सी आवाज़ उभरी और थम गयी है। ऐसा क्यों लगा कि डल झील में नाव उलट गई, डुब्ब ! और सब शांत !

आशंकाओं, प्रश्नों-भरी चुप्पी. . . .या शांति, तूफ़ान आने से पहले की शांति या बाद की? लसपंडित उस वक्त भी त्रिकूट पर्वत की जगर-मगर करती टेढ़ी-मेढ़ी, ऊपर जाती स क निहार रहा था। भला हो जगमोहन का। अब रात को भी वैष्णवदेवी की यात्रा होती है. . . .!

लसकाक, आपको कोई ढूँढ रही है. . . .दीनानाथ, नित्यानंद एक साथ बोल प`, शंकित स्वर, शंकित दृष्टि ! कौन हो सकती है इत्ती रात गये? शोभावती रबर के बबुए-सी उठ ख ी हुई। बबली और गाशा भी।

वही है. . . .आँखें मली, मुच ी हुई ओढ़नी से झाँकता वही कमल का फूल, गोद में. . . .? बच्चा लगता है ! हे राम ! किसका है?

'तु ऽम?' शोभावती की चीख़ निकल गयी। अँधेरे में भूत दिखा क्या?

'हाँ काकनी, मैं !' छाया शिशु समेत आवाज़ की तरफ लपकी, दो-चार ब ों-बच्चों के पैर कुचले. . . .आह, ऊह और घुटे-घुटे रुदन में ल की-देह काँपने लगी। बबली, गाशा बहन से लिपट गये। लसपंडित हायबुंग हैरान देखता रहा - 'हे माँ ! यह जया. . . .तेरे थान से यहाँ कैसे आ गयी? हमने तो इसका तर्पण भी कर दिया ! शिव शिव !'

इस बीच सराय पूरी तरह चौकन्नी हो गयी। कौन. . . .? कैसे. . . .? किसके साथ. . . .? प्रश्नों की बौछार हुई। यहाँ का पता किसने दिया?

आह ! जया के पैरों में टीस उठी। अँधेरे में खोंता लग गया था। ओढ़नी का छोर पाँव में बँध ताजे रक्त से भीग गया था। बच्ची को गोद से उतारा तो वह कुनमुनाई, प्यास से हलक सूख गया है। आवाज़ निकल नहीं पा रही। तेज़-तेज़ हाँफती-सी साँसें, नन्हें पिंजर को कँपा रही हैं। लसपंडित को बिजली का करंट-सा लग गया। वह झटके से ख ा हो गया और ताक पर धरी सुराही से पानी का गिलास भर लाया। गिलास जया को थमा के थो ा-सा जल ओक में भर कर बच्चे को पिलाने लगा। चुक-चुक, बच्ची नन्हीं आवाज़ों के साथ पानी पीने लगी। जाने कब की भूखी है। तालू चटक गया है। लसपंडित बच्ची को गोद में उठा कर थपकने लगा। वह न अपने पास घिर आये बीसियों जनों के धमकाते प्रश्न सुन रहा था और न शोभावती का अनवरत विलाप। कहीं से थो ा-सा दूध मिल जाता या शहद. . .पर इधर शहद कहाँ? नित्याभाई सुबह-सुबह चाय पीने का आदी है, शायद रखा हो कटोरा-भर दूध. . . .!

लेकिन जया को प्रश्नों के उत्तर देने थे, 'नहीं, अकेली हूँ। अस्पताल से भाग आयी। उधर एक नर्स ने मदद की, ट्रक में बिठा दिया। यहाँ ढूँढते-ढूँढते दो दिन भटकती रही। कैंपों मे, गीता भवन, फिर इधर, जो -जो दुःख रहा है। जान निकली जा रही है।'

'इसे वे लोग ले गये थे न? ज़रूर ढूँढते आ पहुँचेंगे। नहीं, यह ल की इधर नहीं रहेगी। हम भी आल-अयाल वाले हैं।'

'नहीं, नहीं, मुझे किसी ने भागते नहीं देखा। वह नहीं रहा, आपसी मुठभे में मारा गया।' 'वह' शायद बच्ची का पिता था।

लेकिन सराय वालों की आशंका बनी रही, बनी रहेगी।

'नहीं, उनका कोई भरोसा नहीं। हमारी बहू-बेटियाँ हैं इसे भिजवा दो।

'बहुत थक गयी हूँ, मुझे रहने दो। मैंने बहुत सहा है।' जया की आवाज़ थरथराते आँसुओं में डूब गई।

'भाया, इस बच्ची का क्या दोष? काली आँधी में कौन साबुत बचा? कोई लुट गया, कोई जख़्मी हुआ। दया करो. . .!'

लेकिन डरी हुई भी का फैसला अटल था, 'यह तुम कहते हो लसपंडित? उम्र भर धर्म की भाषा बोले और आज विपत्ति में इस पाप की गठरी को सीने से लगाओगे? नहीं, हमें अपनी बहू-बेटियों की आबरू बचानी है। तुम चाहो तो इसे साथ लेकर कहीं और आश्रय ढूँढो।'

लसपंडित को कई बर्रों ने एक साथ काट खाया। जाने कितने सालों बाद उसकी आवाज़ सराय वालों ने सुनी, सप्तम पर पहुँची आवाज़, 'आबरू की बात मत करो, मेरा यह दस्तार जिस दिन उन्होंने जूतों से मसल दिया, उसी दिन मेरी भी आबरू चली गयी। तुम्हारी भी आबरू कहाँ बच गयी? ये जो घंटों कतार में ख` भीख के टुक` लेते हो और कुत्ते की तरह दुत्कारे जाने पर भी डटे रहते हो, सो कोई आबरू बच गयी है तुम्हारे पास? धर्म की बात मत करो। शरण में आयी दुखियारी

बेटी को दुत्कार कर तुम कोई धर्म नहीं निभा रहे। लसपंडित आबरू खोकर भी धर्म का अर्थ जानता है----'

पागल हो गया है लसपंडित ! लेकिन वे ओखली में सिर कैसे दें? उन्हें तो जीना है।

जया रो-रोकर हलकान हो गयी, पर शोभावती का विलाप ख़त्म नहीं हो रहा है, 'हमने तो इस अभागी का श्राद्ध भी कर दिया था।' गाशा चुप रहा, बहन को गले नहीं लगा पाया। क्या इसलिए कि वह पापिन थी? या इसलिए कि उसके साथ वे सराय में नहीं रह सकते थे और बाहर कमरा लेकर रहने की तो न तो उनकी हैसियत थी और न जया का प्रसंग सुन कोई इन्हें कमरा देने को तैयार ही होता। इस बच्ची को उधर ही छो आती....उसने बहुत धीमी आवाज़ में बहन से कहा, 'इसे साथ लाई, बहुत ग़लत किया।' जया ने नज़र उठा कर भाई को देखा, उसे लगा, सराय वालों ने नहीं, अपनी माँ-जाये ने उसे एक बार फिर बेइज़्ज़त कर दिया है। कलेजे में भोथरा चाकू खुभा।

'यह मेरी बच्ची है, मेरा ही अंश। मेरी जितनी ही ज़लील। इस निष्पाप को अपने से कैसे अलग करती, मेरे भाई?' पता नहीं आवाज़ बाहर निकली या भीतर ही घुट कर रह गयी।

जया ने आँखें पोंछीं। बच्ची को गोद में समेट लिया। बेहद अपनों के हाथों बेइज़्ज़त होना कितना घातक होता है।

जाने के लिए ख ी हुई जया को लसपंडित ने रोकना चाहा, 'नहीं, नहीं ! इस मासूम को लेकर कहाँ जाओगी?' शोभावती छाती पीटती बेहोश हो गयी थी शायद। बबली हिलक-हिलक कर रो रही थी। गाशा अपराधी-सा सिर झुकाये ख ा था। जया पिता के गले से लिपट गयी, 'बाबा ! दुःख मत करना, बस मेरे लिए प्रार्थना करो....!' थके-हारे कदमों से जया सराय की सीढ़ियाँ उतर गयी और लसपंडित के भीतर शोर की तरह प्रार्थनाओं के स्वर उठे विपत्तिनाशक मंत्र, 'शरणागत दीनार्त... शरणागत दीनार्त....!'

लसपंडित खि की की तरफ मु ा और सराय वाले अपने-अपने चौखटों में समा गये। उनके पास कहने को कुछ भी नहीं था अब !

पता नहीं वे लोग रात-भर सोये या जागते रहे, पता नहीं शोभावती की बेहोशी कब टूटी और गाशा कब तक मुँह से निकली बात पर खुद को कोसता रहा। इस बीच रात पहर पहर रेंग गुज़र गयी। अँधेरा छटते ही सराय वालों ने देखा कि लसपंडित अपनी जगह से ग़ायब है। ढूँढाई हुई, नित्यकर्म को तो नहीं गया? तवी पर स्नान करने गया हो शायद। लेकिन उसकी चद्दर, गठरी-मुठरी भी तो नज़र नहीं आयी। अरे ! कहाँ गया?

कहीं ल की के पीछे तो नहीं चला गया? दिमाग़ तो चल ही गया था। मारा जायेगा बेमौत। और नहीं तो ! वे लोग छो ेगे उसे?

जिसने जो सोचा, जो कहा, पर सच तो यह है कि लसपंडित के यों चले जाने पर सभी ने खुद को एक बार फिर ज़लील होता हुआ महसूस किया।

मंदिर बनाने से भला क्या?

सुभाष ऋतुज

भव्य सा मंदिर बनाने से भला क्या,
जब हुईं खण्डित हमारी आस्थायें?
हम रहे गढ़ते हज़ारों शब्द कोरे,
और गाते गीत रातों-दिन प्रणय के।
झूठ की समिधा समर्पित की तभी तो,
अब तलक घुम नहीं बादल विजय के।
फूल सतरंगे चढ़ाने से भला क्या,
जब हुईं काली हमारी कामनायें?
व्यर्थ हमने धर्म का डंका बजाया,
गेरुआ रंग व्यर्थ चोले पर लगाया।

रामरथ लेकर फिरे हम हर नगर में,
भाइयों को स्वार्थवश हमने ल ाया।
देश से फिर वास्ता अपना रहा क्या,
जब रहे बोते मनों में ईर्ष्यायें?
राम तो घट-घट बसे, हम पास किसके-
कब गये हैं कब मधुर दो बोल बोले?
कब उतारे बोझ उन भारी मनों के,
कब तनावों में कसे सम्बन्ध खोले?
प्यार कब से पंख वापस माँगता है,
किन्तु हैं बहरी हमारी वासनायें।

अवांछिता

आशा रानी

पाँच वर्ष की नन्हीं दीपा को जब पता चला कि शन्नो मौसी उसे अपने साथ दिल्ली ले जायेगी तो उसकी ख़ुशी का ठिकाना न रहा। गाँव में जन्म लेने और पलने वाली भोली दीपा के लिए शहर जाने की कल्पना ही बहुत मधुर थी। गाँव से दो किलोमीटर दूर स्टेशन से ट्रेन की सीटी और गंगा के पुल से गुज़रते हुए उसकी ग ग ाहट दीपा हमेशा ही ब े ध्यान से सुना करती। वह स्वयं उस ट्रेन में बैठेगी इस कल्पना से उसका बाल-मन पुलकित हो उठा। उत्साह में भरी वह पिंकी, मुन्नी, बिट्टू, राजू, कन्नू सभी को यह ख़बर दे आई कि वह दिल्ली जा रही है, अपनी शन्नो मौसी के साथ। उसे लग रहा था जैसे उसने अपने साथ के बच्चों से आगे बढ़ कर कोई इनाम जीत लिया हो।

सच, शन्नो मौसी कितनी अच्छी लगती हैं ! कितनी सुंदर-सुंदर ढेर-सी सा ियाँ हैं उनके पास और उन्हें पहनती भी कितनी अच्छी तरह से हैं ! अम्माँ की तरह नहीं। बालों का जू ा भी कितना अच्छा बनाती हैं ! अम्माँ तो बस चोटी गूँथ कर उसमें लाल रिबन की गाँठ लगा लेती हैं। दीवार में लगे एक फुट के शीशे में देख-देखकर जब शन्नो मौसी बाल सँवार कर जू ा बनाती हैं, दाँतों से छू-छूकर एक-एक पिन बालों में खोंसती हैं, तो दीपा ब ी प्रशंसा के भाव से उन्हें देखती रह जाती है। उसका मन करता है उसकी माँ भी इसी तरह जू ा बनाये, ऐसी ही सुंदर-सुंदर सा ियाँ बाँधे। गाँव में रहने का क्या यह मतलब होता है कि न अच्छे कप े पहनो, न ढंग से बाल सँवारो।

शन्नो मौसी को कहानियाँ भी कितनी याद हैं, ढेरों काहनियाँ। उनके पास एक सुंदर-सी किताब है। उसमें रंग-बिरंगी तस्वीरें हैं, पंछियों की, जानवरों की, सुंदर राजकुमारी की, घो े पर चढ़े राजकुमार की जिसके हाथ में तलवार भी है और दो ब े-ब े दाँतों वाले राक्षस की भी। शन्नो मौसी कहती हैं वे सब कहानियाँ हैं और जब वह उनसे सुनाने की ज़िद करती है तो शन्नो मौसी किताब खोल कर उसे कहानी सुनाती जाती हैं। दीपा के कान उनकी आवाज़ पर और आँखें तस्वीर में उलझ जाती हैं। मौसी जब कहानी सुनाती हैं तो दीपा दूसरे ही लोक में पहुँच जाती है। कभी वह स्वयं फूलों से सजी राजकुमारी बन जाती है, तो कभी राजकुमार के घो े की टाप सुनते ही सो जाती है और कभी राक्षस के दो ब े-ब े दाँतों से डर कर पे के पीछे छुप जाती है। कल मौसी सो रही थीं तो दीपा वह पुस्तक ले कर माँ के पास पहुँची -'अम्माँ, तुम इसमें से कहानी पढ़ कर मुझे सुनाओ।'

अम्माँ ने उसे एकदम झि क दिया था - 'मुझे अँग्रेजी पढ़नी नहीं आती। शन्नो ने तो चार दिन में ही तेरा दिमाग खराब कर दिया है।' और दीपा निराश हो कर सोचती रह गई कि अम्माँ को अँगेंजी क्यों नहीं आती? अम्माँ तो शन्नो मौसी की ब ी बहन हैं। फिर उन्हें वह सब कुछ क्यों नहीं आता जो मौसी को आता है?

वैसे भी तो अम्माँ बात-बात पर उसे झि क देती हैं। मौसी तो अपने बबलू को बहुत प्यार करती हैं। सारा दिन उसी का काम करती रहती हैं। पर अम्माँ ने तो कभी उसे प्यार से खाना नहीं खिलाया। अम्माँ गिलास में दूध देती है तो वह चुपके से रसोई के आले में ही रख कर चली आती है। सोचती है अम्माँ देखेगी कि उसने नहीं पिया तो उसे पास बुला कर अपने हाथ से पिलायेगी, पर ऐसा कहाँ होता है ! अम्माँ तो गिलास में दूध भरा देख कर ही उफन प ती है, 'इस दीपा ने तो नाक में दम कर रखा है, ब ी होती जा रही है पर अक्ल नहीं बढ़ रही। बाप ने तो ब ी धाय रख छो ी है न राजकुमारों के लिए जो पीछे-पीछे नाचेगी. . .दीपा, अरी ओ दीपा. . . .' और माँ की गर्जना सुन कर दीपा दौ ती हुई आकर चुप ख ी, माँ को टुकुर-टुकुर देखती रह जाती है। 'यह दूध क्यों नहीं पिया !'

दीपा का मन करता है कहे, 'माँ तुम पिलाओ न जैसे मौसी बबलू को पिलाती है,' पर उसके मुँह से आवाज़ नहीं निकलती और वह चुप-चाप गिलास उठा कर दूध गटकने लगती है। उसे मालूम है अगर अब उसने देरी की तो माँ के हाथ का चाँटा ही उसके गाल पर होगा। उसकी समझ में नहीं आता माँ हर समय उसके साथ ऐसा क्यों करती है? टुन्नू को तो माँ अपनी गोदी में लेकर दूध पिलाती है। ब ी बहन सीमा को भी प्यार से गिलास हाथ में पक ाती है, सिर पर हाथ फेरती हुई कहती है, 'स्कूल जा रही है, दूध पीकर जा। भूख लगेगी तो यह खा लेना। साथ में एक लड्डू भी

उसके बस्ते में रखती है। दीपा देखती है और सोचती है - जब मैं स्कूल जाऊँगी तो मुझे भी माँ प्यार करेगी। पर कब जायेगी वह स्कूल? उससे तो माँ सारे दिन टुन्नू का ही काम कराती रहती है। इसीलिए तो शन्नो मौसी के साथ जाने की बात से दीपा बहुत खुश है। दिन-रात माँ की डाँट से तो छुटकारा मिलेगा और जैसे शन्नो मौसी शहर में अच्छे स्कूल में पढ़ी है, वह भी पढ़ेगी। वहाँ की सारी बातें ही निराली होंगी। शन्नो मौसी उसे भी सुंदर-सुंदर फ्रॉक पहनायेगी जैसे बबलू को अच्छे-अच्छे कप` पहनाती है। बस एक बात ही गलत है जाने में - उसे अपने टुन्नू की बहुत याद आयेगी। अपना तीन वर्षीय छोटा भाई टुन्नू उसे बहुत अच्छा लगता है। पर कोई बात नहीं, वहाँ वह बबलू के साथ खेलेगी। मौसी भी तो उसे बहुत प्यार करती है। उसे भी वह बहुत अच्छी लगती है। बस उनकी एक चीज़ उसे अच्छी नहीं लगती - उनका पेट बहुत मोटा है।

और दो दिन बाद सचमुच उसका छोटा-सा टीन का बक्सा, बक्सा क्या संदूकची, जिसमें उसके दो फ्रॉक, दो कच्छे और एक तौलिया रखा था, शन्नो मौसी के सामान के साथ स्टेशन पहुँच गया। वह खुद तो इतनी उत्तेजित थी कि उसे पता ही नहीं चल रहा था कि क्या हो रहा है। उसे न माँ का ध्यान रहा न पिता का, न टुन्नू का और ना ही ब ी बहन सीमा का। बस उसकी आँखों के सामने तो इतनी लम्बी ट्रेन ख ी थी। मौसी ने ब` प्यार से उसकी उँगली पक  रखी थी। वह डिब्बे में चढ़ी, उनका सामान रखा गया। पिता ने बबलू को उनकी गोद में दिया और नीचे उतर कर खि की के पास ख` हो गए। दीपा डिब्बे के अंदर ही दौ कर खि की पर आई तो उन्होंने कहा, 'दीपा, मौसी को तंग नहीं करना, उनका कहना मानना।'

दीपा कुछ देखे, समझे, इससे पहले ही ट्रेन खिसकने लगी। उसे लगा - पिता ख`-ख` ही पीछे हट रहे हैं और धीरे-धीरे वह आँखों से ओझल हो गए। बस उनके शब्द उसके कानों में गूँजते रहे, 'मौसी का कहना मानना।' उसने सोच लिया, पिताजी ने जो कहा है वही करेगी। उसके पिता बहुत अच्छे हैं, उसे कभी नहीं मारते। माँ की तरह बात-बात पर डाँटते भी नहीं हैं। वह तो उसे और सीमा दीदी को बराबर चीज़ लाकर देते हैं। पिता जी को याद कर उसे रोना आने वाला था कि ब` जोर-जोर से किसी के गाने की आवाज़ आई। 'ओ बाबू एक पैसा दे दे' और गाने वाला अंधा भिखारी धीरे-धीरे पास आता गया, पैसों के लिए हाथ फैलाये। दीपा को उसका गाना भी बहुत अच्छा लगा। वह गाता हुआ दूसरे डिब्बे में चला गया। वह बाहर देखने लगी - अरे, ये सारे पे तो पीछे भागते जा रहे हैं और बिजली के खम्भे भी। खम्भों से बँधे तार कैसे ऊपर-नीचे होते जाते हैं। सब कुछ कितना अद्‌भुत है। विस्मय और उल्लास में भरी दीपा को पता ही नहीं चला कि दिल्ली आ गई है। स्टेशन पर गा ी रुकी तो मौसी जल्दी-जल्दी सामान बटोरने लगी। मौसा उन्हें लेने आये थे। सब सामान उतर गया तो उन्होंने दीपा को गोदी में उठा लिया, 'वाह, वाह, हमारी दीपारानी आई है' और दीपा जैसे आकाश में उ ने लगी, कहानियों के पंछी की तरह।

स्टेशन से मौसी के घर तक स्कूटर (उसे मौसी ने बताया कि इस तीन पहिये की गा ी को स्कूटर कहते हैं) में जाते-जाते उसने जो कुछ देखा उसे स्वप्न-लोक-सा लग रहा था। इतनी लम्बी-चौ ी स कें, उन पर दौ ती हुई कारें, बसें, स्कूटर, दो पहियों के, तीन पहियों के, साइकिल, मोटर साइकिल, रिक्शा, ताँगा, बाप रे। सभी तो दौ ते चले जा रहे हैं। अपने गाँव में भी रिक्शा चलता है, साइकिल चलती है, पर धीरे-धीरे। भला इस तरह दौ ने की क्या ज़रूरत है?

मौसी का घर भी ऊपर की मंज़िल पर है। खि की में से स क पर देखो तो ब ा अच्छा लगता है। कमरों के फर्श कितने चिकने हैं और पानी के लिए हाथ से नल नहीं चलाना प ता, बस टोंटी घुमा दो और पानी आ गया। यहाँ तो हर चीज़ ही उसे कहानी की तरह लगी। रसोई में मौसी कैसे चूल्हे पर खाना बनाती हैं? न धुआँ उठता है न धौंकना प ता है, बस दियासलाई की सींक से छू दो आग लग जाती है। गाँव में अपनी प ोस की रुक्मी चाची के स्टोव की तरह आवाज़ भी नहीं होती।

दो-चार दिन में ही दीपा को यह सब कुछ सामान्य लगने लगा। फिर मौसी एक दिन शाम को चार खाली बोतलें थैले में डाल कर दीपा को अपने साथ लेकर चली। थो ी दूर जाकर वह एक स्थान पर रुक गई। वहाँ चारों तरफ से बंद एक छोटी कोठरी-सी बनी थी, उसमें दो छोटी खि कियाँ थीं जिनके सामने कई लोग, औरतें, ल के सब लाइन में ख` थे। मौसी भी उसे लेकर लाइन में लग गई। धीरे-धीरे लाइन के लोग आगे खिसकते जाते। मौसी और दीपा भी खि की के सामने पहुँच गये तो उन्होंने दीपा को बताया कि ये पैसे और बोतलें खि की में से अंदर दे देते हैं। दीपा ने देखा

खि की के पीछे कोठरी में एक चेहरा था उसने खाली बोतल और पैसे उठा लिए और दूध से भरी चार बोतलें बाहर सरका दीं। मौसी ने उन्हें उठाया और लाइन छो कर अलग हो गई। घर की ओर चल दीं। उस शाम को जब मौसा घर आये तो शन्नो मौसी ने उन्हें बता दिया कि कल से दूध लाने वाले ल के को मना कर देना है, दीपा को मैंने सिखा दिया है। समझ गई है, यह दूध ले आयेगी। बेकार के तीस रुपये क्यों खर्च हों।

मौसा ने प्रतिवाद किया, 'क्या बात करती हो, दीपा बहुत छोटी है।'

'छोटी है तो क्या, यह बहुत होशियार है।' और सचमुच दूसरे दिन से मौसी की आज्ञाकारिणी दीपा दूध लाने लगी। मौसी गिनकर उसे पूरे पैसे दे देती थी। दूध लेने जाते समय तो कुछ नहीं लगता, बोतलें खाली होतीं पर लौटते समय दीपा से थैला नहीं उठता और उसे इस बात का भी पूरा ख़्याल रखना प ता कि बोतलें टूट जायेंगी तो दूध बिखर जायेगा। वह पीठ पर थैला लेकर धीरे-धीरे एक-एक सीढ़ी चढ़ती। उसे लगता, वह कहानी में राक्षस के पहा की चढ़ाई चढ़ रही है। सीढ़ियाँ उसे सचमुच पहा लगतीं और ऊपर ख ी उसकी शन्नो मौसी की शक्ल बदलने लगती। फिर धीरे-धीरे इसकी भी आदत प गई।

गाँव से आई फूल-सी दीपा शहर के वातावरण और शन्नो के निरंतर बदलते स्वभाव के कारण कुम्हलाने लगी। अब तो उसकी दिनचर्या शुरू होती मौसी की पुकार से, 'दीपा उठ, बहुत दिन चढ़ आया। तेरे मौसा को दफ़्तर को देर हो जायेगी। तू बबलू को सँभाल। मैं नाश्ता तैयार करूँ।'

दीपा घबराकर उठ बैठती। अभी शौच के लिए गई ही होती कि मौसी की आवाज़ आ जाती, 'यह तो बस अंदर जाकर पता नहीं सो जाती है क्या? घंटा लगा देती है। जल्दी आ बाहर, देख बबलू रो रहा है उसे दूध पिला दे।'

दीपा जल्दी से बाहर आ जाती। उसे तो पिता जी ने मौसी का कहना मानने के लिए ही कहा है न। मौसा का टिफन मौसी बना कर देती, उन्हें नाश्ता करातीं। मौसा खूब अच्छे-अच्छे कप पहन कर दफ़्तर जाते। चलते समय दीपा को प्यार करते, 'अच्छा दीपा बेटे, हम जा रहे हैं, बोलो शाम को तुम्हारे लिए क्या लायें?'

इससे पहले कि दीपा कुछ बोले, शन्नो मौसी बोल प तीं, 'तुम इसे बिगा कर रख दोगे और दीदी मुझे ताने देगी।'

मौसा कहते, 'शन्नो, वह बच्ची है, अपने माँ-बाप से दूर तुम्हारे पास है, जरा उससे प्यार से बोला करो। मुझे तो तुम्हारी दीदी पर आश्चर्य होता है कि अपनी फूल जैसी बच्ची को तुम्हारे साथ भेज कैसे दिया।'

'दीदी को तो यह बोझ लगती है। वह तो दो बच्चे ही चाहती थीं। ल के की उम्मीद में थीं। जिस दिन से यह पैदा हुई, उन्हें नहीं सुहाती थी और टुन्नू के होने के बाद से तो यह उन्हें बिलकुल मुसीबत लगने लगी थी। बस मैंने यह समझ लिया था। तभी तो इसे ले आई। अब इस हालत में मुझसे तो सब काम होता नहीं और मेरे लिए नौकर तुम रखोगे नहीं।'

'पता नहीं तुम दोनों बहनें किस मिट्टी की बनी हो ! ऐसी प्यारी बच्ची दूसरी क्या चौथी संतान भी हो तो भी प्यार आयेगा।'

'अच्छा-अच्छा अब आप लौट कर प्यारी बच्ची को प्यार करियेगा - ऑफिस को देर नहीं हो रही?'

मौसा चले जाते और दीपा का मन करता वह मौसी के बक्सों वाली कोठरी में छुप कर खूब रोये, खूब रोये। अम्माँ इसीलिए उसे प्यार नहीं करती थीं कि ल का चाहती थीं और वह ल की पैदा हो गई। पर इसमें उसकी क्या गलती है, इसके लिए तो अम्माँ को भगवान से कहना चाहिये था जो बच्चे देता है।

पर मौसी उसे रोने का अवसर ही नहीं देती। मौसा के जाते ही आदेश दे देतीं, 'फटाफट झा लगा ले, सब काम प ा हुआ है।' और वह झा उठा कर एक कमरे से शुरू करती हुई दूसरे कमरे और फिर दालान में झा लगाती। गाँव में तो उसने कभी झा नहीं लगाई थी पर यहाँ मौसी को कैसे कहती? गाँव में अगर माँ उसे झा लगाने को कहती तो वह घर से भाग जाती और रुक्मी चाची के घर जा बैठती। माँ अगर वहाँ से उसे बुलाती भी तो रुक्मी चाची नहीं आने देती, उल्टे माँ को कह देती, 'भाभी क्या बात करती हो, वह भला उसकी झा लगाने की उम्र है? उसे खेलने दो। सारी ज़िन्दगी ही तो चौका-चूल्हा, झा -बुहारू करना है।' और माँ लौट गई होती।

रुक्मी चाची कितनी अच्छी है। उनके अपना कोई बच्चा नहीं है पर वह सभी बच्चों को कितना प्यार करती हैं। और दीपा को रुक्मी चाची की इतनी याद आई कि फिर उसका रोने को मन करने लगा। उसे सचमुच बहुत रोना आ रहा है। उसका मन झा ् में नहीं है, गाँव में है कि मौसी की आवाज़ से वह फिर चौंक प ती है। 'क्या मरी-मरी-सी झा ् लगा रही है। कोई देखे तो यही समझे कि मैं तुझे खाना नहीं देती हूँ। चल जल्दी कर, बाज़ार से सब्ज़ी लानी है, फिर बहुत धूप हो जायेगी।'

और वह बबलू को गोदी में उठा मौसी के पीछे-पीछे सब्ज़ी लेने जाती। लौटते समय बबलू को मौसी ले लेती और सब्जी का थैला दीपा को पक ा देती और फिर शुरू हो जाती इस राक्षस वाले पहा की चढ़ाई। घर पहुँचते-पहुँचते बबलू सो जाता और फिर उसे मौसी के साथ कप े धोने प ते। एक दिन देर हो गई तो कप े नहीं धुले और पानी चला गया। ऊपर की मंज़िल में पानी कम जो आता है। मौसी ने नीचे झाँककर अपनी प ोसिन से पूछा, 'बहिन जी नीचे पानी आ रहा है?' उत्तर 'हाँ' मिलने पर उन्होंने कप े बाल्टी में भरे और साथ में कप े कूटने का डंडा दीपा को देते हुए कहा, 'जा नीचे वालों के नल पर जाकर धो ला।'

दीपा क्या करती, चली गई और कप ों में नल से पानी बहने के साथ ही साथ उसकी आँखों से भी आँसू बहते रहे। गाँव में रहते हुए दीपा जो राजकुमारी दिखती थी वह कैसे दासी बन गई, उसे पता नहीं चला। अब तो बस उसे सपने में भी फटे कप े, सूखी देह और आँख में आँसू भरी गरीब नौकरानी ही दिखाई देती थी।

इस सबके बीच में बस उसे उसी क्षण दीपा याद आती थी जब उसके मौसा उससे प्यार से बोलते थे। पर ऐसे क्षण बहुत ही कम होते थे क्योंकि एक तो मौसा सुबह से गये शाम को घर आते थे और घर में हर समय उन्हें मौसी व्यस्त रखतीं।

दीपा को शहर आये दो महीने हो गये थे। अब सब स्कूल खुल गये थे। एक दिन दीपा के मौसा उसे स्कूल ले गए और वहाँ उसका दाखला करा दिया। उसे स्कूल में छो कर आने लगे तो उसका मन किया वह भाग कर मौसा के पैरों में लिपट जाये कि मुझे यहाँ छो कर मत जाओ पर वह जैसे ज हो गई, जिस जगह बैठी थी वहीं चिपकी रह गई।

अब वह प्रतिदिन स्कूल भी जाने लगी पर वहाँ भी उसका मन नहीं लगता। न किसी बच्चे से बात करती न खेलती। बस जहाँ टीचर बैठने को कहती छुट्टी होने तक वहीं बैठी रहती। न उसे भूख लगती, न प्यास और ना ही उसे दूसरे बच्चों की तरह कनिष्ठ उँगली उठा कर बाहर जाने की आज्ञा लेनी प ती। टीचर क्या पढ़ाती, उसे कुछ भी पता नहीं चलता। वह तो बस राजकुमारी, राक्षस और दासी की कहानी में अपने को ढूँढती, गुमसुम बैठी रहती। उसकी यह दशा देख कर टीचर ने उसके मौसा को बुलवाया और उन्हें बताया कि 'उम्र उसकी भले ही पाँच वर्ष हो पर उसे पहली कक्षा में नहीं रखा जा सकता। उसे नर्सरी से ही शुरू करना प ेगा क्योंकि दिमाग कुछ कमज़ोर लगता है।'

और उसे नर्सरी में भेज दिया गया। अपने से छोटी उम्र के बच्चों के बीच वहाँ उन्हें देख कर उसे बार-बार टुन्नू की याद आने लगती तो वह अचानक रो प ती। नर्सरी की टीचर समझदार थी। उसने ब े प्यार से उसे अपने पास बैठाना शुरू किया। वह अपनी ब ी-ब ी आँखों से एकटक उन्हें देखती रहती। उनके पास बैठना, उनका प्यार से बोलना, उसे सिखाना, उसे अच्छा लगता और वह स्कूल में आकर खुश रहती। धीरे-धीरे उसने दूसरे बच्चों के साथ बोलना शुरू किया, फिर खेलना भी।

पर इधर घर में फिर उस पर मुसीबत आ गई। बबलू बीमार हो गया। डॉक्टर ने बताया कि उसका ज़िगर बढ़ गया है। उसका खाना-पीना बंद कर दिया गया। यहाँ तक कि उसके सामने भी कोई न खाये अन्यथा वह भी माँगेगा। जब मौसी व मौसा जी खाना खाते तो वह बबलू को लेकर नीचे स क पर चली जाती। फिर मौसी उसे खाना देती और कहती, 'चुप-चाप अंदर बक्सों वाली कोठरी में बैठ कर खा ले। देख, बबलू न देखे।'

और वह खाना लेकर उस अँधेरी कोठरी में जाती जहाँ कहीं से भी रोशनी नहीं आती थी। वहाँ छुप कर तो उसका रोने का मन करता था, खाने का नहीं। अँधेरे में बैठी जब वह खाने की कोशिश करती तो उसे लगता बक्सों के पीछे अगर राक्षस छुपा बैठा होगा तो वह क्या करेगी और घबराहट में वह कभी खाती, कभी भाग आती। एक दिन ऐसी ही घबराहट में चावल की प्लेट उसके हाथ से छूट गई। मौसी ने आवाज़ सुनी और आकर जो अँधेरे में चावल बिखरे देखे तो स्वयं भी बिखर गई। एक तो बबलू की बीमारी और दूसरे गर्भावस्था के बोझ ने उन्हें भी चि चि ा बना दिया था। उन्होंने आव

देखा न ताव और दीपा के गालों पर त ात तमाचे ज दिये। दीपा तो इतनी सहम गई कि उसके मुँह से रोने की आवाज़ तक नहीं निकली। उसको लगा, मौसी के जू` में से धीरे-धीरे दो सींग निकलते आ रहे हैं जो राक्षस के दाँत बनते जा रहे हैं। उस दिन से वह एकदम भयभीत रहने लगी।

इसी बीच एक दिन किसी काम से उसके पिता दिल्ली आये। जब वह मौसी के घर आये तो उसका मन किया जाकर उनसे लिपट जाये और रो-रोकर कहे - मुझे गाँव ले चलो, मैं यहाँ नहीं रहूँगी. . .यहाँ मुझे राक्षस खा जायेगा। पर वह न पिता के पैरों में लिपट सकी, न रो सकी। न बोल सकी। बस जहाँ थी वहीं ख ी-ख ी उन्हें देखती रही। तभी मौसा आये, उन्होंने कहा 'भाईसाहब आप दीपा को अपने साथ ले जाइये, यहाँ यह खुश नहीं रहती।'

शन्नो मौसी एकदम ही बोल उठी, 'जीजा जी, इन्हें तो अक्ल ही नहीं है। बीच में ले जायेंगे तो बच्ची की पढ़ाई का एक साल बर्बाद हो जायेगा। इतने अच्छे स्कूल में दाखला करा दिया है। यहाँ पढ़ेगी साल-दो-साल तो कुछ बन जायेगी।'

और उसके पिता को शन्नो मौसी की बात समझ में आ गई। वह फिर वही दोहराते हुए चले गये, 'बेटी दीपा, मौसी का कहना मानना।'

पिता चले गए उसे घने जंगल में छो कर जहाँ पक्षियों की चहचहाहट नहीं सुनाई देती, हाथी की चिंघा और शेर की दहा सुनाई देती है। घो` पर बैठ कर कोई राजकुमार नहीं आता, अपने दो लम्बे दाँतों को दिखा कर भयंकर अट्टहास करता राक्षस आता है। अब दीपा क्या करे, कैसे यहाँ से जाये। उसका बाल-मस्तिष्क अचानक तेजी से घूमने लगा कैसे वह माँ के पास गाँव जाये? अकेली स्टेशन कैसे जायेगी? घर से तो बहुत दूर है, पैदल नहीं जा सकती। बस तो इतनी सारी चलती हैं किसमें बैठेगी? स्कूटर में बैठेगी तो कहीं स्कूटर वाला ही राक्षस बन कर उसका गला न दबा दे। उसे कुछ समझ में नहीं आता, हर समय भयभीत, गुमसुम रहने लगी। शहर में रहते हुए उसे कई महीने हो गए। जानने-समझने सब लगी है पर डर हर समय उस पर हावी रहता है। वह शहर से भाग जाना चाहती है पर भागने का साहस उसमें नहीं है।

ऐसी ही खोई-खोई-सी दीपा शाम को डिपो से दूध लेकर आ रही थी। स क पार करते-करते सामने से आते स्कूटर को देख घबरा कर अचानक बीच स क में रुक गई। बचाते-बचाते भी स्कूटर उससे टकरा गया। स क पर दीपा मुँह के बल गिरी। सचमुच जैसे राक्षस का पंजा उसके सिर पर आ गया। लोगों की भी इकट्ठी हो गई। शोर होने लगा।

'कैसे माँ-बाप है, जरा-सी बच्ची को यों दूध लेने भेज देते हैं?'

'किसकी बच्ची है?'

'अरे उसे उठाओ तो, देखो मुँह से खून बह रहा है।'

'जल्दी किसी निकट के डॉक्टर के पास ले चलो।'

'ज़्यादा चोट नहीं है,दाँत होंठ में ग गये हैं उससे खून आ रहा है।'

'पर बच्ची तो बेहोश है।'

'डर से बेहोश हो गई है।'

स्कूटर वाला अपने को अपराधी मान परेशान था। उसे डॉक्टर के पास ले गया। सुई लगवाई, मरहम-पट्टी करवाई और आस-पास से पूछ कर उसे उसकी मौसी के घर पहुँचाया। बेहोश दीपा को देख शन्नो मौसी के तो होश उ गये। मौसा दफ़्तर से लौटे तो प ोसियों ने उन्हें ताने देने शुरू कर दिए। 'बच्चे का ख़्याल तो रखना चाहिये', 'परायी बच्ची को घर लाकर रखा है और नौकरों से भी बदतर बर्ताव करते हैं', 'क्या ज़माना आ गया है। भगवान ने बचा लिया नहीं तो स क पर ही मर जाती बेचारी।' दीपा जल्दी होश में तो आ गई पर उसके सिर, दाँत, नाक, सबमें दर्द था। एक बार आँख खोल कर पास बैठे मौसा को देखा फिर आँख बंद कर चुप प ी रही और फिर कई दिन तक बिस्तर से नहीं उठ सकी।

अब तो शन्नो मौसी घबरा गई। उनको घर का सारा काम करना ही कठिन हो रहा था, फिर उसकी सेवा कौन करे। उन्होंने पति से कहा, 'सुनो जी, इसे किसी के साथ गाँव भिजवा दो।'

'उसे थो ा ठीक हो जाने दो फिर देखूँगा कोई आने-जाने वाला मिला तो।'

लगभग पन्द्रह दिन बाद वो एक अपरिचित के साथ अपनी उसी सन्दूकची को लिए फिर ट्रेन में बैठी थी। पर आज उसे न भागते हुए पे अच्छे लग रहे थे, न झूलते हुए बिजली के तार।

अपने घर के दरवाज़े पर पहुँचते समय उसका दिल जोर-जोर से ध क रहा था। टाँगें काँप रही थीं। उसे लगा कि वह गिरने को होगी तो अम्माँ आकर सँभाल लेगी और उसे अपने सीने से लगा कर ख़ूब रोयेगी कि उन्हें छो कर क्यों गई थी। पर वह आँगन के द्वार पर ही ख ी रह गई। उसका पैर अंदर जाने को उठा ही नहीं जैसे किसी ने कील से ज दिया हो। आँगन में बैठी माँ कुछ मसाला साफ कर रही थी। पास ही रुक्मी चाची बैठी थीं। टुन्नू आँगन में तीन पहियों की छोटी-सी साइकिल चला रहा था। हाथ में सन्दूकची लटकाये वह दरवाज़े में ख ी थी। उसने पुकारना चाहा, 'माँ, अम्माँ', पर उसकी आवाज़ नहीं निकली। माँ ही उसे देख कर आश्चर्य से बोली, 'अरी दीपा तू? तू अकेली कहाँ से आ रही है? कौन लाया है तुझे? क्या शन्नो आई है?' प्रश्न ही प्रश्न जो दीपा को सुनाई नहीं दिये। माँ अपनी जगह से हिली नहीं, उठी नहीं, जैसे कोई विशेष बात नहीं हो। दीपा ने चाहा वह उल्टी लौट कर भाग जाये पर वह तो कील से ज ी थी।

रुक्मी चाची का स्वर सुनाई दिया, 'अरे भाभी, देखो तो, यह अपनी दीपा है? फूल-सी बच्ची सूख कर काँटा हो गई है। कैसा पत्थर का कलेजा है सच्ची तुम्हारा।' कहते-कहते वह दौ कर आई और उन्होंने दीपा को उठाकर छाती से लगा लिया। बहुत दिनों से रुका दीपा का बाँध टूट प ा और वह बिलख उठी। सुबकियों से हिलती उसकी देह को चाची ने और भी कस कर जक लिया। उनकी आँखों से भी अश्रुधारा बह रही थी।

प्रश्नचिह्न

ज्योति कालरा 'उम्मीद'

हम सब प्रतिदिन
सैक ों प्रश्नों से जूझते हैं
स्वयं से अपना परिचय पूछते हैं
और लगा हुआ पाते हैं
अपने ही अस्तित्व पर एक प्रश्नचिह्न।
कभी पाते हैं
मधुर संबंधों पर रिश्ते की छाप
एवं परिभाषा न होने का प्रश्नचिह्न।
कभी मर्यादाओं की
परिधि में कैद हो कर
टूटते हैं स्वप्न
लगाते मर्यादाओं की
सार्थकता पर प्रश्नचिह्न।
उत्तर के लिए पुकारती हूँ
किसी अदृश्य शक्ति को
ताकती हुई आसमान की ओर
वहाँ भी पाती हूँ
एक प्रश्नचिह्न
ऐ सप्तऋषि तारागण !
तुम प्रत्येक रात को
आसमान में बिछा देते हो
अपने प्रश्नचिह्न की चादर
तुम युगों से प्रतिदिन
किस प्रश्न का उत्तर चाहते हो
मेरी ही भाँति
इसी प्रश्न का तो उत्तर चाहती हूँ मैं।

बंधन मुक्त

सुदर्शन रत्नाकर

आदतवश उसकी आँख सुबह पाँच बजे खुल गई। लेकिन आज उसे बिस्तर से उठने की कोई जल्दी नहीं थी। पैंतीस वर्षों के बाद आज पहली बार वह इत्मीनान से लेटी रही। मन पीछे लौट जाने को कर रहा था लेकिन उसने अतीत की स्मृतियों को आवरण से ढके रहने दिया। वह उन वर्षों की थकावट को दूर कर देना चाहती थी, जिसमें वह तिल-तिलकर घुटती रही। पर इन वर्षों की थकावट का अवसाद नहीं था उसके मन में। नौकरी वह इच्छा से करती रही है, उसके साथ ही घर-गृहस्थी की सारी ज़िम्मेदारियों को पूरी तरह से निभाया था उसने। कभी किसी को शिकायत का मौका नहीं दिया था उसने। बस, नहीं कुछ किया था तो सिर्फ़ अपने लिए। वह सदा सोचती रही कि अवकाश प्राप्ति के बाद वह अपने लिए वह सब कुछ करेगी जिसे वह नौकरी करते हुए नहीं कर पाई थी।

बिस्तर से देर से उठने के लिए वह कितना ललचाती रहती थी पर हर रोज़ चाहे अवकाश ही क्यों न हो उसे जल्दी उठ जाना प ता था फिर काम की चक्की में कब तक पिसती रहती, पता ही नहीं चलता। दिन बीत जाता और दिन, सप्ताहों और महीनों में परिवर्तित होते-होते बरसों में बदल गये।

कितनी ही देर वह आलस से बिस्तर पर लेटी रही। घर में अभी सब सो रहे थे। दुष्यंत दूध लेकर वापस आ गये थे। उसने उठ कर चाय बनाई, दो प्यालों में डाल कर वह बाल्कनी में जाकर दुष्यंत के सामने बैठ गई। उसे अजीब-सा अनुभव हो रहा था। यूँ पति के साथ इकट्ठे बैठ कर चाय पीना कितना सुखद लग रहा था। प्रतिदिन वह चाय पीती नहीं गटक जाती थी। समय ही कहाँ रहता था उसके पास। सुबह उगते सूर्य की लालिमा में सुनहरी होती धरती-आकाश को आज बरसों बाद देख रही है।

अखबार उसने तसल्ली से पढ़ा। उसने सोचा कल से वह उन पुस्तकों को एक-एक करके पढ़ना शुरू कर देगी जिन्हें पढ़ने के लिए वह तरसती रही है। बहुत सारी जगहें जहाँ वह जाना चाहती थी, अब जायेगी। उसने सारा दिन आराम से बिताया। खाना बनाया। सोई भी। शाम को दुष्यंत के साथ घूमने भी गई। लेकिन कहीं घबराहट, कोई जल्दी नहीं थी।

एक सप्ताह ऐसे ही बीत गया। दिनचर्या में परिवर्तन उसे अच्छा लग रहा था। काम तो वह पहले की तरह ही करती थी, पर उसे करने में कोई जल्दी नहीं रहती थी। दुष्यंत के साथ वह पिछली बातों का हिसाब चुकता करती रही। कुछ समय वह इशा और मंशा के साथ भी बिताने लगी। दोनों कितनी प्यारी बच्चियाँ हैं।

शेष जीवन ऐसे ही चलता रहेगा ऐसा उसे विश्वास था पर मनुष्य जो कुछ सोचता है, वह होता तो नहीं न।

जब वह नौकरी करती थी, आरती और वह मिल कर काम करती थीं। तब तो नाश्ता, खाना इकट्ठा होता था। अब ऐसा नहीं था। खाना वह दोपहर को ही बनाती है। उस दिन इशा को बुखार था। उसने सुबह उठ कर नाश्ता तैयार किया। दो-चार दिन ऐसे ही निकल गए। इशा के ठीक हो जाने के बाद भी आरती किचन में नहीं आई, इसके लिए उसे फिर से जल्दी उठना प ता। उसे दुष्यंत के साथ निश्चिन्त होकर चाय पीना छो ना प ा।

आरती अब सुबह आराम से उठने लगी। वह उठ कर इशा, मंशा के लिए दूध तैयार करती, नाश्ता बनाती।

जब तक वह नौकरी में थी, उसी की बात मानी जाती थी। घर का बजट बनाना, क्या लेना है, क्या काम करना है, यह सब कुछ वही तय करती थी। सभी उसकी बात मानते थे। उसे एक तरह का संतोष रहता था। हालाँकि ऐसा करते हुए उसने कभी अपने हिसाब में अधिक कुछ नहीं रखा। सबके दुःख, खुशी की सोच रहती उसे।

धीरे-धीरे उसने अनुभव किया कि आरती अब पहले की तरह काम नहीं करती। सुबह जान-बूझकर देर से उठती है। आया को भी हटा दिया उसने। 'बीजी घर पर ही तो रहती हैं। इशा, मंशा को देख लिया करेंगी।

उदय ने आरती का संदेश उसे दे दिया था। चाह कर भी वह उसे इंकार नहीं कर सकी। पर उसके अंदर एक फफोला-सा प गया।

समय था जब वह नौकरी के साथ-साथ घर-गृहस्थी, बच्चों का पालन-पोषण सब करती रही। अब उसमें उतना दम नहीं था। पर पहले की तरह ही वह जल्दी उठने लगी। दुष्यंत जब तक दूध लेकर आते वह बहुत-सा काम निपटा चुकी होती। सारा दिन दुष्यंत और उसका दिन काम करने और बच्चों को सँभालने में ही बीत जाता। बच्चों से सँजोये सपने बिखरने लगे थे। दुष्यंत के साथ सैर करना, बतियाना, पढ़ना, निश्चिन्तता से काम करना, सब कुछ पीछे छूट गया। अब तो उसने सोचना भी छो दिया था। पहले तो वह फिर भी कुछ आराम कर लेती थी पर अब तो वह भी नहीं हो पाता था। दुष्यंत भी बाजार से सामान लाते, बच्चों को खिलाते थक जाते। जब वह काम से निपट कर अपने कमरे में आती तब तक वे सो चुके होते। वह भी चुपचाप आँखें बंद किए लेट जाती।

दो बरस ऐसे ही बीत गये। इशा, मंशा ब ी हो गई थीं। स्कूल जाने लगीं पर काम कम नहीं और बढ़ गया था। उसने परिस्थितियों से समझौता कर लिया था। उदय और आरती का व्यवहार उसके प्रति धीरे-धीरे बदलता जा रहा था। उसे लगने लगा, वह बेकार की वस्तु हो गई है। उदय और आरती सोचते हैं, अब उन दोनों की कोई ज़रूरतें नहीं हैं शायद। बूढ़े हो गये हैं, शौक की उम्र बीत गई है। बस, उनसे पूछे बिना ही उनकी इच्छाएँ सीमित कर दी गईं। दो बरस में ही जैसे वह दस बरस आगे निकल गये हों। धीरे-धीरे घर-गृहस्थी की बागडोर छूटते-छूटते कब आरती के हाथों तक पहुँच गई, उसे पता ही नहीं चला। जहाँ उससे बिना पूछे घर में कुछ भी नहीं आता था, वहाँ कब नयी चीज़ आती है वह नहीं जानती। पता तब चलता है जब उदय बहाने से उससे पैसे ले लेता है। ऐसा करते-करते उसकी जमा-पूँजी समाप्त होती जा रही थी। पेंशन भी वह उदय को दे देती है। फिर भी आरती बात-बात में सुनाती रहती है, 'इतनी महँगाई में निर्वाह ब ी कठिनाई से होता है। इतने ब े परिवार का खाना-पीना, बच्चों की पढ़ाई, इतना सब कहाँ से करें।' यह सब क्यों कहा जाता है, वह जानती है। उसके स्वाभिमान को चोट पहुँचती है। क्या नहीं करती वह उनके लिए। काम करते-करते उसकी हड्डियाँ चरमराने लगती हैं, पर वह उफ् तक नहीं करती। जो कुछ करती है, अपने बेटे के लिए, यह सोच कर वह अपने मन को सांत्वना दे देती है। उसे अपनी चिन्ता नहीं पर दुष्यंत का मुरझाया चेहरा उससे देखा नहीं जाता। अपनी ज़रूरतों को कैसे कम करना प ता है। बीमार होने पर भी कहते नहीं ताकि दवा न लेनी प े। यह तब से हुआ जब से आरती ने पेट दर्द होने पर कहा था, 'बाऊजी खाने-पीने का तो ध्यान नहीं रखते, पेट दर्द नहीं होगा तो क्या होगा। उम्र देख कर खाना चाहिये। दवा पर भी तो पैसा लगता है। पेंशन से तो गुज़ारा नहीं हो पाता।' वे सुन कर एक-दूसरे का मुँह देखने लगे थे।

एक ओर तो उदय आरती उन्हें बूढ़े होने का अहसास दिलाते हैं, दूसरी ओर उनसे कोल्हू के बैल की तरह काम लेते हैं। उनका तिरिस्कार करते हैं। उनके अंतर में कुछ चुभने लगता है। एक-दूसरे की पी ा का अनुभव करते हैं पर मुँह से कुछ नहीं बोल पाते। दुष्यंत का आक्रोश कई बार बढ़ जाता है, वह कुछ कहना चाहते हैं पर वह रोक लेती है।

उस दिन तो उसके पाँव के तले की ज़मीन खिसक गई थी, जब आरती ने उससे कहा था, 'बीजी आपको अब ब े कमरे की क्या ज़रूरत है, आप पीछे का छोटा कमरा ले लें। यह इशा, मंशा का कमरा बनाना है। आरती उस कमरे की बात कर रही थी जिसे उसने अपनी जमा-पूँजी से मकान बनवाते हुए अपनी ज़रूरतों के अनुसार बनवाया था। उदय इस बात को अच्छी तरह से जानता है परन्तु आरती के ऐसा कहने पर उसने एक बार भी टोका नहीं। जब अपने ही खून में रिश्तों की गरिमा नहीं रहती तो वह आरती से क्या कहती।

उस रात उसे नींद नहीं आई। उसे लगा उसने स्वयं ही अपने अधिकारों को खोया है। ममता के मोह में बँधी क्यों वह उदय के हर निर्णय के आगे झुकती गई। उसकी पहली ही माँग को उसने दृढ़ता से ठुकरा दिया होता तो उसे आज यह दिन न देखना प ता।

अपनी इच्छा से, खुशी से गृहस्थी सँभालना एक तरह की तुष्टि देता है, लेकिन विवशता से सँभालना बोझ बन जाता है। यही कल उदय-आरती उससे, अपना प्यार देकर भी तो करवा सकते थे। पर उन्होंने तो माँ-बाप को ही बोझ समझ लिया है और इसका अहसास वो उन्हें हर कदम पर, हर क्षण दिलाते रहते हैं।

कोई भी बात जब सीमाएँ पार करने लगती है तो वह नासूर बन जाती है, पी ा देती है। दो दिन तक वह इन सब परिस्थितियों पर विचार करती रही, मंथन करती रही। जब उदय को रिश्तों का अहसास नहीं रहा तो वह क्यों इनमें बँध कर शेष जीवन को अभिशाप बनाती रहे। दुष्यंत का पैतृक गाँव जिसे नौकरी के कारण वो बरसों पहले छो आये थे, वहीं जाने का निर्णय ले लिया उन्होंने। वहाँ वे अपनी इच्छा से जी सकेंगे।

निर्णय ले लेने के बाद भी वह सोचती रही, उनका यूँ जाना क्या ठीक रहेगा? उदय और आरती को उनके बिना कितनी कठिनाई होगी। इशा, मंशा के बिना तो उनका भी दिल नहीं लगेगा। लेकिन उदय, आरती को उनके कर्तव्य का अहसास दिलाने, उनकी उपस्थिति कितना महत्व रखती है, इसके लिए उनका जाना ही ठीक होगा।

दुष्यंत और उसने चुपके से जाने की पूरी तैयारी कर ली। किसी को इसका आभास तक नहीं होने दिया। और फिर एक सुबह जब उदय व आरती अभी सो रहे थे, उन्होंने अपने घर के किवा खोले और बाहर आ गये। पीछे मु कर नहीं देखा। वे जिन बंधनों से मुक्त होकर जा रहे थे, कहीं वो उन्हें फिर बाँध न लें।

मंथन

अक्षय गोजा

शुरू हो गया है मंथन रिश्तों का
निकलेगा अमृत इससे
अगर विष भी निकला तो क्या?
डरता रहा यों ही विष से
सपने ही आयेंगे अमृत के।

विष और अमृत ही नहीं,
निकले थे चौदह रत्न
समुद्र के मंथन से।
रिश्तों के मंथन से
मिलेंगे कितने सारे रत्न?

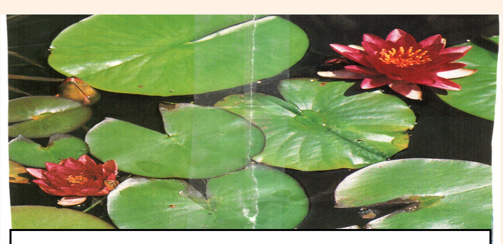

निरन्तर लेखन ही मेरा जीवन है

(आदरणीय एवं प्रिय विष्णु जी व उनके परिवार ने सदैव ही स्नेह दिया, अभारी हूँ। विष्णु जी के ९७ जन्मदिवस पर उनके स्वस्थ जीवन की मंगलकामनाओं सहित, उन्हीं के प्रिय पाठकों के लिए - संपादक)

विष्णु प्रभाकर जी से सुनीति रावत की बातचीत

एक दीवान, आस-पास रखी दो कुर्सियाँ, सामने रखा एक स्टूल, उसके ऊपर रखे हस्तलिखित काग़ज़, काग़ज़ों के ऊपर रखी खुली कलम। होठों पर एक सहज मुस्कान। ब ी आत्मीयता और गहरा स्नेहिल स्वर। कुछ देर तक सहज वार्तालाप चलता रहा, दिल के किसी कोने से आवाज़ आई -

सौम्य, सरल, शील-सात्विकता
नेह-निपूरित, मृदुल-सहजता
निरभिमान, प्रतिभा के आगर
साहित्य जगत के स्वयं प्रभाकर।

मैं कुछ देर उन्हें देखती रही फिर दीवान की ओर रखी पुस्तक को देखा - वे मुस्कुराये, यह नवीनतम कृति है, जीवन यात्रा वृत्तान्त लिख रहा हूँ - हँसते निर्झर, दहकती भट्टी, यह तीसरा खण्ड है और चौथा चल रहा है। मैं कुछ पल चुप रही फिर कहा, आपका संक्षिप्त परिचय भी जानना चाहती हूँ, वे बोले, परिचय - २१ जून १९१२ में मीरीपुर (जिला मुज़फ्फर नगर, उत्तर प्रदेश) में जन्म हुआ, बाल्यकाल वहीं बीता, फिर हिसार (हरियाणा) आ गये। परिस्थितिवश, नौकरी करनी प ी अतः कुछ वर्षों तक हिसार के पशु-पालन विभाग में नौकरी की, फिर दिल्ली आ गया, १९५५ में स्वतंत्र लेखन की प्रवृत्ति के कारण, नाट्य-विभाग से दो वर्ष पश्चात् ही त्यागपत्र दे दिया। फिर स्वतंत्र लेखन शुरू किया, जो आज तक चल रहा है बस !

कितनी सरलता से कितना नन्हा परिचय, एक विराट व्यक्तित्व की इतनी सहजता। किन्तु क्या सर्व-विदित नहीं है उनका रचना संसार, हिन्दी साहित्य को दिये गये नाटक, एकांकी, रेडियो रूपक, कहानियाँ, उपन्यास, संस्मरण, यात्रा-वृत्तान्त और अनेक संपादित पुस्तकें, उस पर बंगला साहित्य के श्रेष्ठ रचनाकार शरत् चन्द्र जी की जीवनी - अवारा मसीहा, अनेक श्रेष्ठ पुरस्कार और इस अवस्था में भी प्रतिदिन छः घंटे का साहित्य-कर्म - यही है उनकी दिनचर्या।

भेंटवार्ता की बात सुन कर एक सहज बाल-सुलभ-सी मुस्कान उनके चेहरे पर तैर गई। वे हँसे। बचपन के पलों की भी अपनी ही मधुरता होती है, है ना ! छोर को पक कर मैंने बातचीत प्रारंभ की। - सुनीति रावत

सुनीति रावत : बचपन की कौन-सी घटना है जिसके कारण आप मुस्कुरा उठे?

विष्णु प्रभाकर : माँ की याद निरन्तर मेरे साथ रही है। माँ जो उस समय की पढ़ी-लिखी एक सम्भ्रान्त महिला थीं, पर्दा-प्रथा के विरुद्ध चलने वाली, सांस्कृतिक, सहृदय, किन्तु उनका कहना - लला ! यह पान चाची को तो दे दे और मेरा डोरी से बँधे पान को चाची की ओर, ऊँचाई से बढ़ा देना, इस पर चाची कहतीं - लल्ला ! ज़रा दूर से, नहीं तो नहाना प ेगा. . . ना. . . ना चाची, कह कर मैं हँसता और पान डोरी समेत उनकी गोद में छो देता। फिर हमारे घर की सफाई करने वाली भंगन चाची और माँ घंटों गपियाती रहतीं। मुझे उनकी गप्पें और हँसना-खिलखिलाना अच्छा लगता।

सुनीति रावत : और पिता जी का सान्निध्य !

विष्णु प्रभाकर : पिता जी का शासन कुछ कठोर था। हर समय पढ़ने-लिखने की ताकीद और व्यावहारिक कठोरता के कारण मैं विद्रोही-सा होता गया। किशोर वय तक काफी विद्रोह करने लगा था। उन दिनों आर्य-समाज का खूब बोलबाला था, मेरी हिन्दी अच्छी थी। चाचा जी के साथ आर्य-समाज के कार्यक्रमों में भाग लेता था। युवाकाल का जोश और भाषणबाजी, लोग मुझे नेता कहने लगे, किंतु उस समय आज़ादी की ल ाई में न जा सका।

सुनीति रावत : 'नेता' कहलाने पर आपको कैसा लगता था? नेता बनने की ललक भी क्या आपके मन में उदित हुई?

विष्णु प्रभाकर : उन दिनों जनसाधारण में नेता कहलाना अच्छा लगता था। पर आज़ादी की ल ाई में भाग न ले पाने के कारण मन अप्रसन्न रहता था। इस भावना को मैंने एक डायरी में व्यक्त भी किया, जिसके कई पृष्ठों पर लिखता था - Better to die, Better to die.

सुनीति रावत : क्या आज़ादी के अनुष्ठान में आप बिलकुल भी भागीदार नहीं बन पाये थे?

विष्णु प्रभाकर : नहीं, ऐसा नहीं था। नमक बनाने और चखने में हम मौजूद थे। उस समय पुलिस के डण्डे भी खाए और १९४० में जेल यात्रा भी की।

सुनीति रावत : जेल यात्रा के मूल में क्या कारण था?

विष्णु प्रभाकर : भाषण अच्छा देता था। हिन्दी शुद्ध लिखता था। पुलिस को संदेह था कि कहीं न कहीं भ काने वाले भाषण या प्रचारक पत्र मेरे पास अवश्य होंगे। वे हम लोगों की खोज में थे, इस बात की भनक जैसे ही हमारे सी.आई.डी. गुट को लगी, वैसे ही करीब दस दिन पहले हमें होशियार कर दिया गया। बस फिर क्या था, सब कागज-पत्रों की गठरी बना कर हमने एक प ोसी के घर में रख दी।

पुलिस घर में आई और हमें पक कर भी ले गई, मुझे और मेरे साथी सत्य नारायण सर्राफ को। सुबह तीन बजे रेड हुई, बीस आदमी पुलिस के थे। गली भर में घबराहट फैल गई। प ोसी ने भयभीत होकर पूरी गठरी ही जला डाली, जिसमें मेरे पत्र, डायरी और किताबें सब नष्ट हो गईं।

सुनीति रावत : विष्णु जी, आपके द्वारा रचित साहित्य अगाध है। साहित्य लेखन में रुचि कब से प्रारंभ हुई?

विष्णु प्रभाकर : स्कूल के दिनों से ही लिखने का शौक था। उन दिनों प्रयाग से 'बाल सखा' नामक एक पत्रिका निकलती थी। श्रीनाथ ठाकुर उसके संपादक थे। उसमें कुछ रचनाएँ छपी थीं। १९३० में 'हिन्दी मिलाप' में एक लेख भी छपा और फिर इस पत्र में एक कहानी जिसका कथानक परिवार के दुःख और शराबी पिता की निर्ममता, कुछ इस प्रकार का था।

सुनीति रावत : तो क्या यह आपकी पहली कहानी है?

विष्णु प्रभाकर : नहीं, मैं अपनी पहली कहानी 'स्नेह' को मानता हूँ जो 'अलंकार' पत्रिका मे प्रकाशित हुई थी।

सुनीति रावत : क्या कहानी के प्रकाशन के साथ-साथ आपका रुझान लेखन की ओर ही बढ़ गया था?

विष्णु प्रभाकर : नहीं, रुझान तब भी स्वतंत्रता की ओर था। १९१९ में जलियाँवाला बाग की भयंकर घटना घटी। हमारे कस्बे में भी काँग्रेस कमेटी बनी, उसमें भी मैं चाचा जी के साथ था और ख़िलाफत आंदोलन में भी। साथ ही राजा रतन चन्द, जो हमारे पुरखे थे, उनसे मित्रता का गिंदौ ा (गु) लेने के कारण हमारा गोत्र राजशाही कहलाता था। राजवंशी अग्रवाल कहलाने से देश-प्रेम का भाव तो था ही, आर्यसमाज का भी प्रभाव था अतः स्वाधीनता का जज़्बा अधिक था।

सुनीति रावत : इस जज़्बे के मूल में कोई और घटना?

विष्णु प्रभाकर : मेरे ब े भाई भी आज़ादी की ल ाई के हिमायती थे। एक दिन बोले - देखो, मैं अपने देश का खद्दर पहनता हूँ। यह सुन कर चाचा जी ने कहा - एक वह भी है और एक तू है। बात मन को चुभ गई, बस फिर क्या था। मंगल के दिन पैंठ (बाज़ार) लगते ही वहाँ जाकर एक खद्दर की धोती खरीदी। पिताजी ने क्रोध में कहा - अब तू भी टाट पहनेगा। साथ ही गाल पर थप्प प ा। मैं गुस्से से भन्ना गया। 'हाँ, पहनूँगा....' और तब से अब तक अधिकतर खद्दर ही पहना।

सुनीति रावत : पारिवारिक परिवेश की कुछ और बातें....?

विष्णु प्रभाकर : १९२५ में भयंकर प्लेग फैलने से परिवार में कई सदस्य परलोक सिधार गये थे। छोटे चाचा जिनकी अच्छी-खासी कप े की दुकान थी, वे प्लेग की भेंट चढ़ गये। पिता जी की एक छोटी-सी तम्बाकू की दुकान थी, उससे गुज़ारा होना मुश्किल हो गया। बस यहीं से घर के कई सदस्यों की मृत्यु और आर्थिक पतन के कारण मुझे छोटी उम्र में ही नौकरी करनी प ी। मामा जी ने यह नौकरी दिलवाई थी। घर की अर्थव्यवस्था कुछ सुधरी पर मैं खूब रोया, आगे पढ़ना चाहता था।

सुनीति रावत : आपकी प्रारम्भिक रचनाओं में और बाद की रचनाओं में आप स्वयं क्या अंतर पाते हैं?

विष्णु प्रभाकर : उन दिनों कई बार 'भावुक रचनाकार है' कह कर कई रचनाएँ लौटी भी थीं। प्रेमचन्द जी ने 'हंस' में भेजी एक रचना के लिए कहा - कथानक लम्बा है, संवाद कम। किंतु 'हंस' में बाद में मेरी एक कहानी, 'शिवरानी देवी' की खूब चर्चा हुई। सन् १९३८ में विवाह हुआ। उस समारोह में नेमीचंद जैन, यशपाल जैन आदि थे, वे वोले - आप नाटक क्यों नहीं लिखते, सुन कर बाद में मैंने कुछ नाटक भी लिखे जैसे - 'हत्या के बाद' (राजनैतिक पृष्ठभूमि पर), 'माँ-बाप' - जो कई वर्षों तक कोर्स में लगा।

सुनीति रावत : तत्कालीन रचनाकारों और उससे पूर्व के रचनाकारों के लेखन के समन्वय पर कुछ कहिये?

विष्णु प्रभाकर : (हँस कर) वर्ष १९५५ को मैं नये और पुराने रचनाकारों के लेखन का समन्वय मानता हूँ। १९५५ में 'हंस' का एक कहानी अंक निकला - 'संयोग'। इस अंक में पुराने व नये रचनाकारों का समन्वय था, जैसे रांगेय राघव की ग़ज़ल और कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, शेखर जोशी, अमरकांत आदि की अन्य रचनाएँ भी थीं। यहाँ दो पीढ़ियों का अच्छा समन्वय दिखाई दिया। उसके बाद 'हंस' में बहुत कुछ छपा।

सुनीति रावत : दिल्ली आगमन की बात जानना चाहूँगी, क्योंकि दिल्ली ही आपके स्वतंत्र लेखन की पृष्ठभूमि बनी।

विष्णु प्रभाकर : हाँ, दिल्ली मैं नौकरी से इस्तीफा देकर १९४४ में आया और फ्री-लांसिंग करके गुज़ारा करने लगा। उन दिनों काँग्रेस मूवमेण्ट से जु` होने के कारण, कश्मीर के फ्री-ट्रिप मिलते थे। वहाँ जाकर जनता का मनोबल उठाने के लिए हम लोग नाटक, नाच-गान, भाषण आदि कई कार्यक्रम किया करते थे। उसी दौरान आकाशवाणी दिल्ली से भी निमंत्रण मिला। १९४७ में मैं रेडियो से जु गया। कश्मीर पर कई रूपक दिए। हर हफ्ते नाटक देता था। वे सब छः वॉल्यूम में हैं। पर मन बँधने को तैयार न था। तुलसी दास जी की एक उक्ति याद आई - 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।' बस, पराधीनता की बे ियाँ तो कर स्वतंत्र लेखन में जुट गया।

सुनीति रावत : रचनाधर्मिता में आपको आगे बढ़ने में क्या कोई विशेष सहयोग मिला, आपके साहित्यिक बन्धुओं से?

विष्णु प्रभाकर : अब एक गहरा सत्य कहता हूँ कि रचनाकार ही रचनाकार का दुश्मन होता है। कोई किसी रचना को निकृष्ट रचना कह देता है, कोई आलोचना करता है। कभी-कभी तो कुछ कह देते हैं कि उसे लिखना नहीं आता, या अब उसे लिखना बंद कर देना चाहिये।

सुनीति रावत : लेकिन मैं आपके विशाल लेखन भंडार से ही कुछ प्रश्न उठाना चाहूँगी। मैंने आपकी पुस्तक चर्चित कहानियाँ पढ़ी। 'मुरब्बी' कहानी में आंचलिकता की सुंदर प्रस्तुति देख कर, आपसे इस सम्बंध में कुछ जानना चाहती हूँ।

विष्णु प्रभाकर : (हँस कर) आंचलिकता का सुंदर समन्वय. . . .वास्तव में 'मुरब्बी' मेरे दद्दा थे और कहानी की बहू मेरी माँ, बच्चा मैं स्वयं हूँ। पात्रों पर वास्तविकता की छवि के कारण 'मुरब्बी' अच्छी कहानी बनी। इस कहानी में प्रयुक्त भाषा को 'कौरवी भाषा' भी कहा जाता है।

सुनीति रावत : आपकी कहानियों और विशेषकर उपन्यासों को पढ़ कर लगता है जैसे आपकी लेखन-यात्रा कहीं नारी मुक्ति की खोज करती बढ़ती है। 'निशिकांत' की कमला का जूझना, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी तरह 'तट के बंधन' की नीलम और 'स्वप्नमयी' की अलका भी नारी संघर्ष की ध्वजा लिए आगे बढ़ती हैं। ऐसा प्रतीत होता है आपके उपन्यासों में नारी मुक्ति की खोज निरन्तर व्याप्त रहती है।

विष्णु प्रभाकर : ऐसा सम्भव भी है और तत्कालीन समाजगत प्रभाव भी। फिर नारी विमर्श तो एक युगान्तरकारी प्रश्न रहा है।

सुनीति रावत : 'हमसफर मिलते रहे' यह संग्रह कहानी और रेखाचित्र दोनों का समन्वय लगता है, आप इस संग्रह को किस नाम से पुकारना चाहेंगे?

विष्णु प्रभाकर : वे जीवन्त व्यक्ति हैं, मेरे मित्र हैं, अतः सत्यचित्रित भी है, तो संस्मरण ही कहा जा सकता है।

सुनीति रावत : आपके लेखन में रूपक, एकांकी और नाटक इनका विशेष स्थान रहा है, इस संदर्भ में 'केरल का क्रांतिकारी' आपका एक प्रसिद्ध नाटक है। इस नाटक के नायक वेलुतम्बी दलवा का प्रभाव तत्कालीन स्वतंत्रता संग्राम पर क्या प ा, क्या इस संबंध में भी आप विचार व्यक्त करना चाहेंगे?

विष्णु प्रभाकर : स्वतंत्रता संग्राम की पृष्ठभूमि बहुत समय से तैयार हो रही थी। दलवा ट्रावनकोर का प्रधान था, केरल की क्रांति का स्मृति-चिह्न वह पत्थर जिस पर ख` होकर वेलुतम्बी ने युद्ध की घोषणा की थी, मैं स्वयं जाकर उस पत्थर पर ख ा हुआ हूँ। वहाँ की क्रांति का सूत्रपात १८५७ से बहुत पहले हो चुका था। कुछ लोगों का कथन है कि दलवा की एक प्रेमिका भी थी। हो न हो, इस नाटक की नायिका को मैंने 'दलवा' के ऊर्जा-स्त्रोत के रूप में गढ़ा है।

सुनीति रावत : आपकी सभी रचनाओं पर चर्चा करना संभव नहीं, फिर भी चर्चा हो और 'अवारा मसीहा' अछूती रह जाये, यह सम्भव नहीं। शरत् जी की इस जीवनी को लिखने में इतने वर्ष (१९५७ से १९७४) लगे, इस दीर्घकाल का कारण कतिपय कठिनाइयाँ भी रही होंगी, इस संबंध में.....

विष्णु प्रभाकर : ग्रंथ रत्नाकर (मुंबई) में जब सम्पूर्ण शरत् साहित्य का अनुवाद प्रकाशित हुआ, उसके मालिक नाथू राम प्रेमी जी ने कहा - हमें २०० पन्नों तक कि एक जीवनी (शरत् बाबू की) छापनी चाहिये। अन्य नामों के मध्य मेरा नाम आने पर उन्होंने जीवनी लेखन का प्रस्ताव भेजा और मैंने सोचा कि बांग्ला साहित्य के प्रतिष्ठित साहित्यकार के संबंध में तथ्य सुगमता से मिल जायेंगे। किन्तु तथ्य और यथार्थ के लिए मुझे अनन्त प्रयास करने प` और देश-विदेश भ्रमण भी करना प ा किन्तु उनके संबंध में सामग्री एकत्रित करना टेढ़ी खीर थी। मुझे केवल तीन पुस्तकें सौ पेज की मिलीं। अभिनन्दन ग्रंथों में भी स्वल्प रेखांकन दिखाई दिया। शेष समय के लम्बे अंतराल की तरह ही विशेष अंतराल से सामने आया।

सुनीति रावत : वास्तव में 'अवारा मसीहा' एक विशिष्ट कृति बनी। लोकप्रियता और जीवनी लेखन की एक विशिष्ट शैली (मनरंजकता) दोनों ही दृष्टिकोणों से यह रचना अद्भुत है। अब कुछ नितांत निजी प्रश्नों की आज्ञा चाहूँगी। जीवनयापन और लेखन इन दोनों पक्षों के सामंजस्य में आपकी अर्द्धांगिनी का सहयोग, क्या कुछ स्मृतियाँ हमारे पाठकों के साथ बाँटना चाहेंगे?

विष्णु प्रभाकर : (मुस्कुराकर) अर्द्धांगिनी ही थीं वे, वास्तव में जीवन-भर उन्होंने पूर्ण सहयोग दिया। वे पढ़ी-लिखी थीं। प्रभाकर किया था, ट्रेनिंग भी। लेखन में व्यवधान देख कर अक्सर कहतीं - नौकरी छो कर चले आओ, सहज जीवन के लिए सब कुछ तो है ही। मैं अक्सर उनके साथ अपनी रचनाओं पर चर्चा भी करता था। गर्भावस्था में अक्सर उनसे मातृत्व भाव की अनुभूतियों की बात भी किया करता था। नारी के मातृत्व के कई भाव उनके कथन से भी जीवन्त हुए हैं। अक्सर झग ता भी था। वास्तव में झग ने का भी अपना ही आनंद होता है। (वे विगत में डूबे-से मुस्कुराते रहे)

सुनीति रावत : एक लेखक की पत्नी होने पर वे कैसा अनुभव करती थीं?

विष्णु प्रभाकर : बहुत प्रसन्न थीं। उन्हें गर्व था कि वे एक लेखक की पत्नी हैं। मेरे सम्मानित होने पर उनके चेहरे के भाव इस सुख के साक्षी रहे हैं।

सुनीति रावत : एक अन्य पक्ष भी नारी-वर्ग से संबंधित होने के कारण छो ना नहीं चाहती हूँ, वह है स्त्री विमर्श का प्रश्न....तब और अब....

विष्णु प्रभाकर : स्त्री विमर्श युगान्तरकारी प्रश्न है, सदा से रहा है। नारी जीवन और विद्रोह, ये पक्ष दयानंद जी और राजाराम मोहन राय के समय से ही उभरते रहे हैं। गाँधी युग में भी क्रांतिकाल में प्रश्न उठते थे क्या लाठी चार्ज की कुछ संदर्भगत स्वतंत्रताएँ हमें अच्छी नहीं लगती हैं, कि भूख-प्यास की तरह ही 'सेक्स' को मानना या नवीनता की आ में बहुत खुलापन रखना।

पुरुष के संबंध में आज भी वही प्रश्न ख ा है कि वह उसे अपने से आगे नहीं देख पाता है। आज भी नारी जलाई जाती है। यद्यपि स्त्री विमर्श को लेकर अनेक गोष्ठियाँ, विचार, कानून आदि बनते जा रहे हैं। फिर भी विमर्श के स्वरूप में वास्तविकता का पुट पहले जैसा ही है।

सुनीति रावत : आपके अपने पारिवारिक परिवेश में नारी की संदर्भगत अभिव्यक्ति क्या रही है?

विष्णु प्रभाकर : (हँसते हुए) उस काल में मैं भी जाति से बाहर विवाह करने की इच्छा लिए आगे बढ़ा था किंतु माता-पिता ने मुझे अनुमति नहीं दी। यद्यपि उनकी इच्छा से किये गये विवाह से मुझे कोई क्लेश नहीं रहा। पत्नी मेरी शक्ति भी बनीं। और आज हमारे उसी परिवार में ब्राह्मण, तमिल, क्रिश्चयन, जैनी, पंजाबी, सिक्ख आदि सभी परिणय संबंधों को देखा जा सकता है।

सुनीति रावत : अंत में एक अनुनय है निजी भी और नवोदित रचनाकारों की ओर से भी, आप नवोदित रचनाकारों को क्या संदेश देना चाहेंगे?

विष्णु प्रभाकर : आज का साहित्य मीडिया के कारण प्रभावित होकर क्षति के कगार पर पहुँचता जा रहा है। नवोदित रचनाकार ही नहीं अपितु सभी रचनाधर्मियों से कहना चाहूँगा कि वे आँखें खुली रखें। लेखन के अनेक संदर्भ मिलेंगे। वैसे मै पराशर ऋषि की भाँति पुत्र से भी पराजय की कामना करता हूँ। अतः पुत्रवत् नवोदित पीढ़ी भी आगे बढ़े। लेखन पर आलोचना हो, आक्षेप हो या अन्य कुछ, बस लिखते रहें। समय की सापेक्षिता, लेखन के प्रवहन से ही निरन्तर जीवित रही है।

सुनीति रावत : क्षमा चाहती हूँ कि आपका बहुत समय लिया है किन्तु एक प्रश्न और भी हृदय में है कि हिन्दी साहित्य का भविष्य आपके दृष्टिकोण से....

विष्णु प्रभाकर : साहित्य सृजन की भावभूमि चाहे किसी भी भाषा में हो, आगे बढ़ती ही रहती है। हिन्दी रचनाधर्मिता भी निरन्तर बढ़ रही है। विदेशों में भी अग्रसर है, और बढ़ती ही रहेगी। इस सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं है। आज का निरन्तर लेखन और प्रकाशन इस सत्य का प्रमाण है, हाथ कंगन को आरसी क्या....

सुनीति रावत : आपके इस स्नेहिल भाव और सहज मानवीयता से अत्यन्त प्रभावित हूँ। वर्ष १९८६ में आपके हाथों हिन्दी अकादमी का मैंने पुरस्कार लिया था और तब से अब तक आपके साथ चर्चा की कामना रही थी, जो आज पूर्ण हुई। धन्यवाद। (बस, वे उसी बाल सहज तरलता से मुस्कुराते रहे और हम विदा हो गये।)

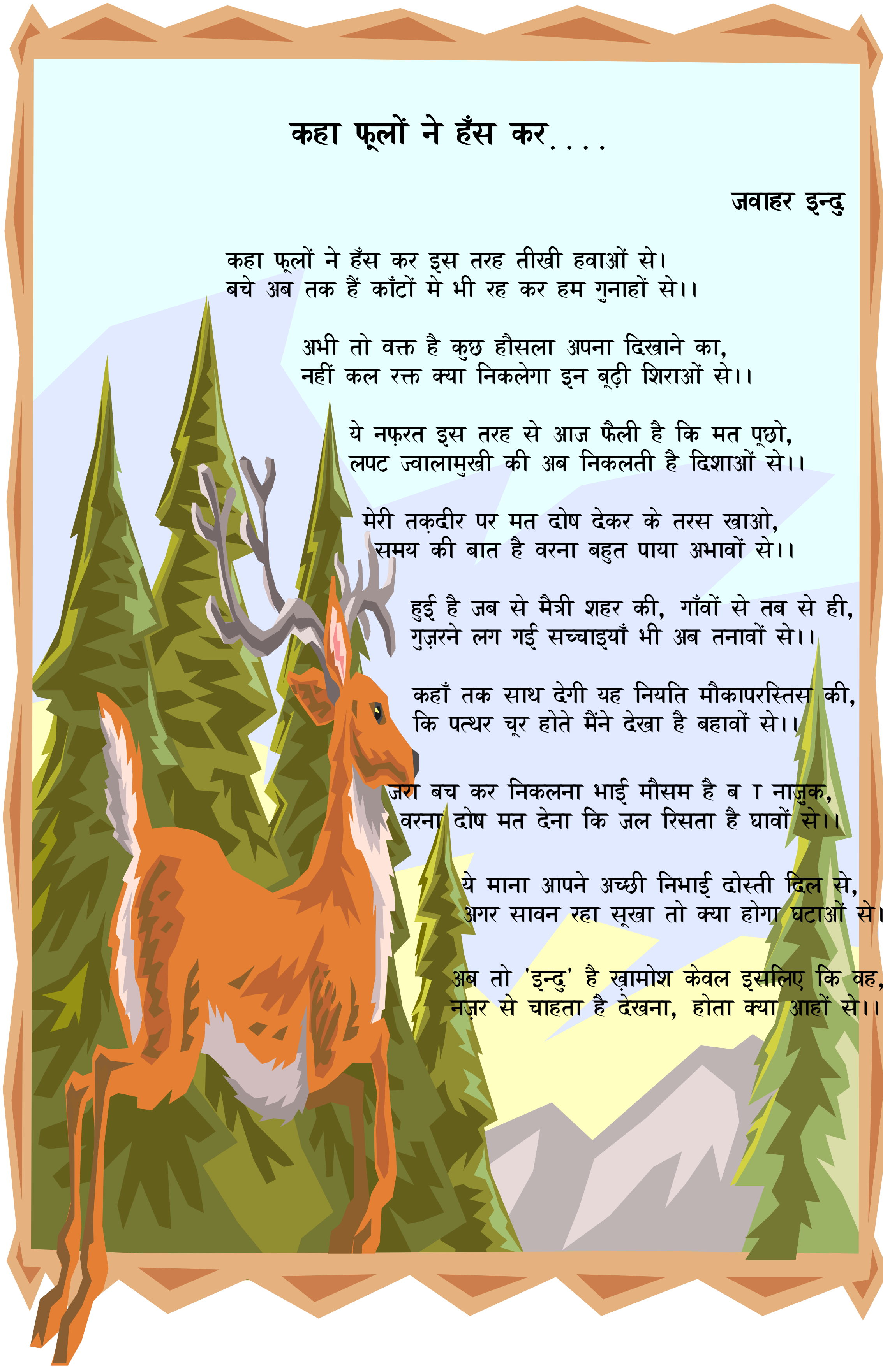

कहा फूलों ने हँस कर....

जवाहर इन्दु

कहा फूलों ने हँस कर इस तरह तीखी हवाओं से।
बचे अब तक हैं काँटों मे भी रह कर हम गुनाहों से।।

अभी तो वक्त है कुछ हौसला अपना दिखाने का,
नहीं कल रक्त क्या निकलेगा इन बूढ़ी शिराओं से।।

ये नफ़रत इस तरह से आज फैली है कि मत पूछो,
लपट ज्वालामुखी की अब निकलती है दिशाओं से।।

मेरी तक़दीर पर मत दोष देकर के तरस खाओ,
समय की बात है वरना बहुत पाया अभावों से।।

हुई है जब से मैत्री शहर की, गाँवों से तब से ही,
गुज़रने लग गई सच्चाइयाँ भी अब तनावों से।।

कहाँ तक साथ देगी यह नियति मौकापरस्तिस की,
कि पत्थर चूर होते मैंने देखा है बहावों से।।

ज़रा बच कर निकलना भाई मौसम है ब ा नाज़ुक,
वरना दोष मत देना कि जल रिसता है घावों से।।

ये माना आपने अच्छी निभाई दोस्ती दिल से,
अगर सावन रहा सूखा तो क्या होगा घटाओं से।।

अब तो 'इन्दु' है ख़ामोश केवल इसलिए कि वह,
नज़र से चाहता है देखना, होता क्या आहों से।।

स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

अनमोल हास्य क्षण	(नाटक-संग्रह)
जीवन के रंग	(काव्य-संग्रह)
दर्दे-ज़ुबाँ	(नज़्म व ग़ज़ल संग्रह)
आज का पुरुष	(कहानी-संग्रह)
जीवन-निधि	(काव्य-संग्रह)
आत्म-गुंजन	(आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत)
हास-परिहास	(हास्य कविताएँ)
ज़ज़्बातों का सिलसिला	(काव्य-संग्रह)
The Galaxy Within	(A collection of English poems)
अनुभूतियाँ	(काव्य-संग्रह)
काव्य-वृष्टि	(संकलन एवं संपादन)
पूरब-पश्चिम	(आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह)
बौछार	(संकलन एवं संपादन)
काव्य हीरक	(संकलन एवं संपादन)
संजीवनी	(स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख)
उपनिषद् दर्शन	(अध्यात्मिक)
काव्य-धारा	(संकलन एवं संपादन)
काव्यांजलि	(काव्य-संग्रह)
अनोखा साथी	(कहानी-संग्रह)

प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित